सबलोग

वर्ष 3, अंक 12, दिसम्बर 2011

सम्पादक

किशन कालजयी

सहायक सम्पादक

राजन अग्रवाल

सम्पादकीय सलाहकार

आनन्द कुमार

सुबोध नारायण मालाकार

राम मेश्राम

गिरीश कुमार

मुकुल शर्मा

मणीन्द्रनाथ ठाकुर

सन्तोष कुमार शुक्ल

विशेष सम्पादकीय सहयोग

अखलाक अहमद 'आहन'

आलोक पाण्डेय

मीरा मिश्रा

गंगा सहाय मीणा

प्रबन्धक

पीयूष किशन

प्रबन्धक (प्रसार)

आर. भागवत

सम्पादकीय सम्पर्क

एफ-3/78-79, सेक्टर-16

रोहिणी, दिल्ली-110089

फोन : 011-27891526

sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क

एक अंक 20 रुपये – वार्षिक : 200 रुपये

त्रैवार्षिक : 500 रुपये – आजीवन : 5000 रुपये

चेक या बैंक ड्राफ्ट सम्पादकीय पते पर 'सबलोग' के नाम भेजें

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जीटी रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

इस बार

खेती किसानी और ग्रामीण विकास

स्तम्भ

आवरण एवं साज-सज्जा : क्वालिटी प्रिन्टर्स

जेपी आंदोलन व्यवस्था परिवर्तन का शांतिपूर्ण आंदोलन था

हिन्दुस्तान, 1 नवम्बर, 2011 के संपादकीय पृष्ठ पर प्रकाशित लेख 'लोगों के गुस्से से डरना जरूरी' (आशुतोष) में अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में जेपी और जेपी आंदोलन पर भ्रामक व निराधार टिप्पणी की गई है। यहाँ तक कि 'जेपी को आंदोलन में हिंसा का सहारा' लेने का दोषी ठहराते हुए यह कहा गया है कि 'जेपी आंदोलन अपनी मूल आत्मा में हिंसक था...' यह भी कहा गया कि 'जेपी ने पूरे आंदोलन में हिंसा के लिए कभी खेद नहीं जताया।'

जेपी आंदोलन और अन्ना आंदोलन की यदि तुलना ही की जाए तो एक मूलभूत फर्क दोनों आंदोलनों में यह रहा कि जेपी आन्दोलन की शुरूआत जेपी ने नहीं, बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टाचार व कुशिक्षा से त्रस्त और नाराज युवकों ने की थी। इसके उलट अन्ना आंदोलन की शुरूआत भ्रष्टाचार के मुद्दे पर स्वयं अन्ना व उनके सहयोगियों ने की, यानी शुरूआत की पहल उनके हाथ रही। 18 मार्च, 1974 को शुरू हुए बिहार आंदोलन में हिंसा और आगजनी हुई थी। इस पर जेपी ने फौरन यह बयान दिया था-''क्रांति का मतलब लूट और आगजनी नहीं है (loot and arson does not mean revolution)''। आंदोलन का दमन किया गया और इसके पश्चात आंदोलन का नेतृत्व संभालने का अनुरोध स्वयं आंदोलनकारी युवाओं ने जेपी से किया था। युवाओं ने व्यवस्था के प्रति अपने ढंग से नाराजगी व्यक्त की और इसमें जेपी को कोई संभावना दिखाई दी तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। देश में तानाशाही की आशंका को भाँपकर जेपी ने पहले ही युवकों को ललकारा था और 1973 में 'यूथ और डेमोक्रेसी' की स्थापना की थी। इससे कहीं न कहीं प्रेरित होकर देश भर में युवकों ने पहल की, विशेषकर गुजरात और बिहार में युवकों ने जेपी को आंदोलन का नेतृत्व करने का आग्रह किया था। गुजरात के युवकों का निमंत्रण उन्होंने स्वीकार नहीं किया लेकिन बिहार के युवकों का आमंत्रण वे नहीं ठुकरा सके।

8 अप्रैल, 1974 को पहली बार जेपी ने मौन जुलूस का नेतृत्व किया जिसमें लोगों के हाथों में तख्तियाँ थीं - 'क्षुब्ध हृदय है, बंद जुबान'। इसके बाद 5 जून 1974 को गांधी मैदान में 'संपूर्ण क्रान्ति' का आवाह्न जेपी ने किया, और यह आंदोलन व्यवस्था परिवर्तन का आंदोलन बन गया। ध्यातव्य है कि इंदिरा गांधी से इस्तीफे की मांग जेपी ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसले के बाद किया, उसके पहले कभी नहीं जैसा कि लेखक ने लिखा है कि 'जेपी ने छात्र आंदोलन की लीडरशिप हाथ में लेते ही इंदिरा हटाओ का नारा बुलंद किया था'।

4 नवंबर, 1974 को जेपी पर लाठियाँ चली थीं। जेपी का हिंसा के प्रति कोई रुझान ही होता तो यह उनके लिए बड़ा मौका था। इसके उलट 11 नवंबर 74 को गांधी मैदान की महती सभा में उन्होंने लोगों से शांत रहने की अपील की। इसके पहले 3-4-5 अक्तूबर, 1974 को तीन दिनों के बिहार बंद के दौरान भी अशांति फैलने का बड़ा मौका था, बल्कि पटना साहिब रेलवे स्टेशन पर पुलिस की गोलियों से लोग मारे गए थे। वास्तव में जेपी ने बराबर बार-बार लोगों से शांति बनाए रखने की अपील की और शांतिमय, शुद्ध साधनों के इस्तेमाल के लिए उन्हें प्रेरित किया। यही कारण है कि आपातकाल लागू होने के पहले लगातार सोलह महीनों तक चला जेपी आंदोलन प्रायः शांतिपूर्ण बना रहा, इसे कतई हिंसक नहीं ठहराया जा सकता। जेपी क्रांतिकारी नेता थे लेकिन माओ त्से तुंग की प्रसिद्ध उक्ति – 'सत्ता बंदूक की नली से निकलती है' को इस प्रकार पूरा करते थे – ''... और बंदूक आम जनता के हाथों में नहीं होती।'' 1 जनवरी, 1975 को संपूर्ण क्रांति के लिए जेपी ने छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी का गठन किया जिसके वे स्वयं सेनापति थे। वाहिनी की सदस्यता की एक प्रमुख शर्त थी – ''संपूर्ण क्रांति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शांतिमय एवं शुद्ध साधन ही अपनाऊँगा/गी।''

लेख को आद्योपांत पढ़कर यही धारणा बनती है कि लेखक को न तो आंदोलनों का कोई अध्ययन है, न ही जेपी के व्यक्तित्व व कृतित्व के बारे में कोई जानकारी। वरना 1972 को चंबल के दुर्दांत दस्युओं को आत्मसमर्पण कराकर शुद्ध साधनों का मार्ग अपनाने को प्रेरित करने का प्रसंग, साथ ही नगालैण्ड और मुसहरी में उनकी पहल को क्योंकर भुलाया जा सकता है। लेखक को यह भी शायद ही मालूम हो कि स्वयं भारत सरकार ने 1970-71 में पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की समस्या पर विश्व जनमत बनाने के लिए उन्हें सबसे उपयुक्त मानकर दुनिया भर के देशों में भारत का पक्ष रखने को भेजा था।

जेपी मार्क्सवादी थे, समाजवादी हुए और फिर जीवनदानी सर्वोदयी। उन्हें जीवन में दो बार तीन दशकों के अंतर पर देश का नेतृत्व करने का अत्यंत दुर्लभ अवसर मिला था। दोनों ही बार यानी 1942 और 1974 में उन्होंने देश को दिशा दी। आज अगर देश में बहुदलीय लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की कुछ भी स्वतंत्रता है तो इसके पीछे जेपी आंदोलन का बहुत बड़ा योगदान है। और शांतिमयता ही उस आंदोलन की शक्ति थी जो कि गांधीजी के रास्ते पर चलने का ही एक और तरीका था। और अंत में, 'लोगों के गुस्से से डराना' क्या अहिंसा है? हमें सख्त अफसोस है कि ऐसे गैर जिम्मेदाराना एवं गलत-तथ्यों का सहारा लेकर लिखे गए लेख को हिन्दुस्तान जैसे बहुपठित अखबार में जगह दी गई।

-हम हैं, जेपी आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्त्ता और उसके अनंतर निकले परिवर्तन चाहनेवाली जमातों एवं संगठनों के प्रतिनिधिगण।

अनिल प्रकाश, कल्पना शास्त्री, अरविंद अंजुम, शिवानंद भाई, रामचन्द्र चौधरी, मंथन अशोक, प्रो. किरण बाला, सत्यनारायण मदन, कंचन...

(जनमुक्ति संघर्ष वाहिनी, सम्पूर्ण क्रांति राष्ट्रीय मंच, लोक समिति, सर्वोदय मण्डल, ग्राम निर्माण मण्डल, फ्रेण्डस 1974 मूवमेन्ट)

किसान आन्दोलन से आगे



तमाम शहरी विकास और औद्योगीकरण के बावजूद मानव जाति का अधिकांश गाँवों में रहता है और अपनी जीविका के लिए खेती और पशु पालन पर आश्रित है। भारत की पिछली जनगणना से यह स्पष्ट हो चुका है कि सत्तर प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है। जाहिर है उनके जीवन का मुख्य आधार खेती ही है। खेती की स्थिति क्या है इसकी एक झलक स्वामीनाथन आयोग की उस रिपोर्ट (2007) में देखी जा सकती है जो यह बताती है कि 'इकतालीस प्रतिशत किसान वैकल्पिक रोजगार मिलने पर कृषि छोड़ देना चाहते हैं।' खेती पर से किसानों का भरोसा किस तरह उठता जा रहा है इसका प्रमाण राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो का यह आँकड़ा है कि 'पिछले सोलह वर्षों (1994-2010) में ढाई लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्या की है।'

भारत में खेती-किसानी की बदहाली अँग्रेजी राज से ही शुरू होती है, दुखद सच्चाई यह है कि आजादी के बाद यह बदहाली कम होने के बजाय बढ़ती गयी। उस जमाने को अभी बहुत दिन नहीं हुआ है जब भारत का ग्रामीण समाज आत्मनिर्भर और स्वाबलम्बी था। वह अपनी जरूरत की लगभग हर चीजें (भोजन, वस्त्र और मकान के लिए आवश्यक सामग्री) खुद तैयार कर लेता था। अँग्रेजों के राज-पाट में परिस्थितियाँ बदलने लगीं। नयी भूराजस्व व्यवस्था कायम कर अँग्रेजों ने जमीन पर निजी स्वामित्व कायम कर लिया। उसका या दमामी बन्दोबस्ती वाले इलाकों में जमींदारों का मुख्य उद्देश्य कृषि में पैदा होने वाले सम्पूर्ण अधिशेष को हथियाना बन गया। उन्नसवीं सदी के अन्त तक किसानों की स्थिति ऐसी थी कि उन्हें उनकी जोत से किसी भी समय बेदखल किया जा सकता था। काफी जद्दोजहद और संघर्ष के बाद 1885 में बंगाल टेनेंसी एक्ट बना तब किसानों को थोड़ी राहत मिली। अँग्रेजों ने एक चालाकी यह की कि नयी भूराजस्व व्यवस्था में लगान नगदी में लेने का प्रावधान बना दिया। नकद पैसों के लिए किसान अपना अनाज बाजार में बेचने के लिए मजबूर हो गये। फिर तो बाजार निर्देशित करने लगा कि किसान कब कौन सी फसल उगाएँगे। किसानों पर बाजार की यह चढ़ाई कभी थमी नहीं। यह वही दौर था जब अपनी औद्योगिक उत्पादों की खपत के लिए अँग्रेज छल-बल से ग्रामीण हस्तकारी को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि छोटे-छोटे उद्योगों और हस्तशिल्पों से जिनका जीवन-यापन हो रहा था, वे भी कृषि निर्भरता की ओर बढ़ने लगा। खेती किसानी की दुर्दशा बढ़ने लगी।

देश जब आजाद हुआ तो देशवासियों को लगा कि कृषि प्रधान देश में कृषि नीतियाँ इस तरह बनेंगी कि किसानों का कल्याण होगा। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। हर सरकार किसानों को छलती रही। बीच में हरित क्रान्ति का दौर आया तो लगा कि कृषि के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति होने वाली है। अब जब हरित क्रान्ति का सच उजागर होने लगा है तो अँधेरा ही अँधेरा दिख रहा है।

दरअसल खेती एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। अपनी भूख और प्यास मिटाने के लिए यदि जरूरत भर प्रकृति से लिया जाय तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। जैसे ही हम खेती को मुनाफा अर्जित करने वाले धन्धे के रूप में देखने लगते हैं तो उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। किसान यह सोचकर ज्यादा-से-ज्यादा रासायनिक खादों का इस्तेमाल करता है कि उसे उपज ज्यादा होगी। उपज ज्यादा होती भी है, लेकिन इस तात्कालिक लाभ की चकाचौंध में किसानों को स्थायी हानि का अँधेरा नहीं दिखता। रासायनिक खादों और कीटनाशकों के अत्यधिक उपयोग से जमीन की उर्वरता तो नष्ट होती ही है, जैविक विविधता का भी सत्यानाश हो जाता है। सबसे अधिक खतरनाक बात यह है कि रसायनों के दम पर उपजाए फसलों के उपभोग से मनुष्य समुदाय में भीषण लाइलाज बीमारियों का प्रकोप देखा जा रहा है। कुचक्र तो यह है कि इन बीमारियों के इलाज के लिए महँगी दवाई या तो वही बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बनाती हैं जो रासायनिक खाद और कीटनाशक बनाती हैं या उनसे गहरी साँठ-गाँठ रहती है।

किसानों के इस शोषण से कोई नेता, अभिनेता, लेखक, पत्रकार, ग्रामसभा, विधानसभा और लोकसभा नावाकिफ नहीं है, फिर भी यह देश का महत्त्वपूर्ण मुद्दा नहीं बन पा रहा है तो इसलिए कि संसद और सरकार चलाने वाले लोगों को किसानों से सहानुभूति नहीं है।

दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश, जहाँ सबसे अधिक आबादी किसानों की हो, वहाँ सबसे अधिक शोषण किसानों का हो रहा हो यह कैसे सम्भव है? इस कुचक्र को तोड़ने के लिए 'किसान राजनीति' की जरूरत है। छोटे-छोटे किसान आन्दोलन तो पूरे देश भर में चलते रहते हैं, उनकी ऐसी एकजुटता की जरूरत है जो देश की राजनीति को बदल दे। अब इस देश को अर्थशास्त्री प्रधानमन्त्री की नहीं, किसान प्रधानमन्त्री की जरूरत है। किसानों और खेती के हित में कौन कानून और कैसी व्यवस्था बने यह किसानों को तय करना चाहिए। यह काम करने के लिए उन्हें कोई दावत नहीं देगा। उन्हें अपने संख्या बल का अहसास होना चाहिए कि इस देश में उनका बहुमत है। यदि बहुमत उनका है तो संसद और सरकार उनकी क्यों नहीं हो सकती? सरकार अपनी होगी तो खेती भी अपनी होगी। तब हमें कोई दबाव नहीं दे सकता कि अपने खेतों में यही बीज लगाओ और इसी खाद का उपयोग करो।

मनुष्य के जीवन के लिए सबसे जरूरी चीज भोजन के लिए अन्न उपजाने वाला किसान यदि आज संकट में है तो यह सिर्फ किसानों का संकट नहीं, यह सिर्फ देश का भी संकट नहीं है, यह पूरी सभ्यता का भी संकट है। अगर हम खेती को बचाकर और सँवारकर नहीं रख पाये तो हम कुछ भी बचा नहीं पाएँगे।

(किशन कालजयी)

सरकारी उपेक्षा और खेती किसानी

सुबोध नारायण मालाकार



इस देश के किसान सदियों से मेहनती और हुनरमन्द रहे हैं। आजादी के बाद भी खेती किसानी और ग्रामीण विकास पर ध्यान नहीं दिया गया। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में खेती ही यदि खतरे में हो तो फिर विकास का मतलब क्या है?



लेखक स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, जेएनयू में अफ्रीकन अध्ययन केन्द्र के अध्यक्ष हैं।
malakr2003@yahoo.com
+919868898103

आज भारत के सामने कृषिप्रधान देश होने के नाते सबसे बड़ी चुनौती यह हो गयी है कि वह दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी आबादी को लेकर विकास का कौन सा मॉडल अपनाए? आज के दौर में जब पूरी दुनिया पूँजीवाद की तरफ बढ़ रही है तो भारत पर भी एक अन्तरराष्ट्रीय दबाव बना रहता है कि वह अपनी नीतियाँ उनके अनुसार बनाएँ। एक हिसाब से हमारी अब तक की सरकारें पूँजीवाद-समर्थक रही हैं और उन्होंने ऐसा कोई मॉडल पेश नहीं किया है जो किसानों और देश की बहुसंख्यक जनता के पक्ष में हो? ऐसे में इस चुनौती को उसकी समग्रता में समझना बहुत जरूरी हो जाता है। आज हमें विकास के एक ऐसे मॉडल की आवश्यकता है जिसमें हम विकास के रास्ते पर तो जाएँ लेकिन पूँजीवाद की वजह से तबाह हो रही हमारी प्रगतिशील और सकारात्मक परम्पराओं, खेती-किसानी पर आधारित ग्रामीण सम्बन्धों के सकारात्मक पक्षों की हानि को रोकें। और समानता पर आधारित एक नये और बेहतर भारत का निर्माण कर सकें। इसके लिए सबसे पहले तो हमें खेती के बारे में समझना होगा कि हमारे यहाँ की खेती की विशेषताएँ क्या हैं? दूसरी बात यह कि सिर्फ किसान ही खेती से जुड़े हुए नहीं है बल्कि इसमें वे खेत-मजदूर भी शामिल हैं जिनके पास अपने खेत नहीं हैं। लेकिन वे खेत में काम करते हैं और खेत को उपजाने में खेत-मजदूर किसान से ज्यादा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसान एक परिवार होता है जो खेत में काम करता है और खेती बिना सामूहिक श्रम के सम्भव भी नहीं है। इसलिए जब हम खेती-किसानी पर बात करते हैं तो उसके साथ-साथ हमें भूमिहीन खेत-मजदूर के बारे में भी बात करनी चाहिए। उन्हें नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए क्योंकि वे खेत को उपजाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं।

हमारे यहाँ किसानों की पहली श्रेणी उन किसानों की है जिनके पास आवश्यकता से अधिक खेत है। बहुत सारे खेत में वे खेती नहीं कर पाते और वह परती रह जाते है। इनमें बड़े-बड़े भूस्वामी भी शामिल हैं जो

बड़े पैमाने पर खेती करते हैं। दूसरे किसान वह है, जो स्वयं खेती करते हैं और खेत-मजदूर को साथ लेकर खेती करते हैं। तीसरे प्रकार के किसान वे है जिन्हें हम सीमांतीय किसान (मार्जिनल फारमर) कहते हैं और इनके पास इतनी ही जमीन होती है कि पूरा परिवार मिलकर उत्पादन करते हैं और उसी से सालभर अपना गुजारा चलाते हैं। इस तरह किसानों की ये तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं और तीनों अलग-अलग ढंग से काम करती हैं। इनमें केवल बड़े किसान ही बाहर के मजदूर लेने में सक्षम होते हैं। मध्यम और छोटे किसान इसमें सक्षम नहीं होते। अगर वे ऐसे करते है तो अन्ततोगत्वा खेती में लगने वाली लागत का बड़ा हिस्सा खेत-मजदूर की मजदूरी देने में ही लग जाएगा। उस लागत के बदले उसे कोई फायदा नहीं होता। कई बार खेती की लागत उत्पादन की कीमत की तुलना में ज्यादा भी हो जाती है। इससे खेती और किसानी दोनों संकट में आ जाती है।

भारत की खेती मानसून की प्रकृति पर निर्भर करती है। यदि मानसून अच्छा रहा तो फसल भी अच्छी होगी। अगर मानसून के दौरान कहीं बाढ़ आ गयी तो बहुत से खेत और फसल बर्बाद हो जाएँगे। इसी तरह गर्मी अधिक पड़ी तो सूखा पड़ जाता है। ये हमारे किसानों की आम समस्याएँ है। स्वतन्त्रता के बाद जिस तरह की नीतियाँ बनी हैं, उसने हमारे किसानों की इन चुनौतियों को कभी भी ध्यान से देखने की कोशिश ही नहीं की है। ध्यान से देखने की कोशिश वह कर सकती है लेकिन उनकी नीतियाँ उन्हें ऐसा करने से रोकती हैं। अगर ऐसा होता तो लोगों का या सरकार का ध्यान किसान की ओर जाए, लेकिन ऐसा हुआ नहीं और हमारी खेती-किसानी लगातार हाशिए की ओर जा रही है। आजादी के बाद सबसे पहली आवाज परती जमीन को लेकर, भूमि सुधार को लेकर आयी। भूमि सुधार के लिए बहुत सी प्रगतिशील शक्तियों को संसद में जद्दोजहद करनी पड़ी। बड़ी मुश्किल से 1971 के आसपास जाकर सिलिंग एक्ट लागू हुआ जिसमें कहा गया कि एक आदमी के पास 16 बीघे भूमि रहेगी जिसमें 10 एकड़ सिंचित भूमि रहेगी। इससे अधिक भूमि एक आदमी के पास नहीं रहेगी, वह सिलिंग एक्ट में चली जाएगी। जब भूमि सुधार आन्दोलन के साथ-साथ विनोबा भावे का भूदान यज्ञ भी शुरू हुआ। हुआ यह कि भूदान यज्ञ में जिन भूमिपतियों ने अपनी जमीन दान में दी थी। बाद में उन्हीं भूमिपतियों ने उसे फिर से हथिया लिया। इस तरह भूमि सुधार कभी हो नहीं पाया। लेकिन जिन राज्यों की सरकारें जागरूक थीं वहाँ भूमि सुधार लागू हुआ। केरल और पश्चिम बंगाल में यह बहुत ही तेजी से लागू हुआ। केरल के मुख्यमन्त्री अच्युत मेनन जी (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया) के समय में 10 लाख किसानों को जमीन बाँटी गयी। इस तरह जब छोटे-छोटे किसानों को जमीनें मिली तो उन्होंने अपने-अपने खेतों में फसल उत्पादन शुरू किया। पश्चिम बंगाल में अनाज का उत्पादन हमेशा से अच्छा होता रहा है। भूमि सुधार लागू होने के बाद से वहाँ के अन्न के उत्पादन में काफी इजाफा हुआ है। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि हमारे यहाँ भूमि सुधार नहीं हुआ है।

भूमि सुधार के साथ-साथ सरकार फसल-बीमा के सवाल को भी सही से लागू नहीं कर पायी। खेत-मजदूरों और किसानों के बीच लागत और लाभ को लेकर हमेशा झगड़े होते रहे हैं। किसान को मिलने वाला न्यूनतम समर्थन मूल्य बहुत ही कम होता है। पैदावार को लेकर किसान और उद्योगपति का नजरिया एक ही नहीं होता है? किसान जो पैदा करता है और उद्योगपति जो पैदा करता है, उसमें जमीन-आसमान का अन्तर होता है। उद्योगपति अपनी वस्तु का दाम खुद तय करके बाजार में ले जाता है। लेकिन किसान द्वारा उपजाए अन्न का दाम किसान स्वयं नहीं पूँजीपतियों की सरकार तय करती है। मुख्य सवाल यह है कि जो उत्पादन करता है, उसका दाम वह खुद तय करे या कोई अन्य करे? सरकार या तो किसान द्वारा उपजाए अनाज और उद्योगपतियों द्वारा तैयार माल, दोनों का दाम वह खुद तय करे या फिर उसे किसानों और उद्योगपतियों को तय करने दे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होता है। सरकार उद्योगपतियों को तो अपना दाम तय करनी की खुली छूट देती है लेकिन किसानों द्वारा उपजाए अनाज के दाम नियंत्रित करती है। यह लोकतान्त्रिक नीति नहीं है। अगर सरकार किसानों को अपने उत्पादन के दाम तय करने का कोई अधिकार नहीं देती है तो उसका प्रभाव पड़ता है। वह प्रभाव उद्योगपतियों द्वारा पैदा किए गये खाद, बीज, कीटनाशक दवाइयों के दामों के रूप में पड़ता है। दाम इतना अधिक बढ़ा दिया जाता है कि अधिक दाम पर खरीदने के बाद फसल उत्पादन में उसका वास्तविक मुनाफा घट जाता है। इसलिए सरकार को चाहिए कि किसान को जिन चीजों की आवश्यकता है, उनके दाम तय करे। जैसे-पैट्रोल व डीजल, खाद जैसी जरूरी चीजों के दाम तय किए जाएँ जिनसे खेती सम्भव होती है। किसान को अपने द्वारा उत्पादित अनाज की कीमत तय करने की ताकत देनी चाहिए। अगर आप ऐसा न करके न्यूनतम समर्थन मूल्य तक सीमित रहते हैं तो इससे खेती-किसानी का कोई फायदा नहीं होने वाला है। बल्कि इससे किसान द्वारा उत्पादित चीजों का अवमूल्यन होता है।

अकेला 'भारतीय खाद्य निगम' सारे भारत के किसानों को बाजार मुहैया नहीं करवा सकता। न वह उसके अनाज को सुरक्षित रखने का स्थान मुहैया करा सकता है और न उसके उचित भंडारण की व्यवस्था कर सकता है। इतना ही नहीं, एक राज्य की सरकार दूसरे राज्य में उत्पादित अनाज के व्यापार को प्रतिबन्धित भी करती है। ये तमाम चीजें भारतीय किसान के विरोध में जाती हैं। इससे किसान का खेती के प्रति उत्साह खत्म होता जाता है। दरअसल हमारी सरकार भी यही चाहती है कि देश की किसानों पर निर्भरता दिनोंदिन कम होती जाए। वह चाहती है कि हमारा किसान उद्योगपत्तियों, पूँजीपति और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण का शिकार बनकर जीना शुरू कर दे। ताकि किसानों द्वारा उत्पादित अनाज व सामान को ये पूँजीपति दलाल सस्ते दामों पर खरीदकर ऊँचे दामों पर दूसरे देशों को निर्यात करके कई-कई गुना लाभ कमा सकें। उनकी नीतियाँ है कि कैसे किसानों द्वारा उत्पादित सामान को ज्यादा-से-ज्यादा स्टोर करके, उसका विदेशी

निर्यात करके ज्यादा-से- ज्यादा लाभ कमाया जाए? आप देखेंगे जब किसी किसानी वस्तु का दाम बढ़ता है तो उसका लाभ किसान तक नही पहुँच पाता। उसका सीधा फायदा नेताओं, पूँजीपतियों, उद्योगपतियों और अन्ततः पूंजीवादी नीतियों को होता है। इस तरह की नीतियों से हमारे देश के किसानों का विकास नहीं हो सकता। इससे वह दयनीय स्थिति में चला जाएगा। धीरे-धीरे किसानी पर से ही उसका विश्वास उठता चला जाएगा। इसके चलते देश में खाद्य-समस्या पैदा हो रही है। अब किसान सोचने लगा है कि हम जो अन्न उपजाते हैं उससे हमारा गुजारा नहीं घाटा होता है। मजबूरीवश उसने खाद्यान्नों के साथ-साथ व्यापारिक फसलें भी उगाना शुरू कर दी हैं। व्यावसायिक फसलों की राजनीति को समझना बहुत जरूरी है? यह पूँजीपति देशों की औद्योगिकी को विकसित करने की बाजार केन्द्रित नीतियों का व्यावहारिक रूप है। इसमें हम उनकी जरुरतों के अनुसार चीजें पैदा करते हैं। इससे हमारा नहीं, पूँजीपति देशों का फायदा होता है। चाहे वह कपास की खेती हो या पेट्रोलियम पदार्थ तैयार करने वाले पौधे की खेती हो या चिप्स बनाने के लिए आलुओं की खेती ही क्यों न हो हो। ये सभी अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवादी ताकतों द्वारा अपने हितों के अनुरूप निर्धारित की जाती है। कैसे खाद्यान्न फसलों से लोगों का ध्यान हटाकर व्यापारिक फसलों की ओर ले जाया जाए? कैसे इन व्यावसायिक या व्यापारिक फसलों को बाहर के बाजार और बाहर की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया और भेजा जाए? कैसे ज्यादा-से-ज्यादा पैसा कमाया जाए?

यह कोई नया सवाल नहीं है। उपनिवेशवादी समय में यह पूरी दुनिया में बड़े पैमाने पर हुआ है। जहाँ खाद्यान्न फसलें अच्छी मात्रा में होती थी, वहाँ स्थानीय लोग सुख-शान्ति से निर्वहन करते थे। लेकिन उपनिवेशवादी ताकतों ने अपने व्यावसायिक हितों के लिए उन पर व्यावसायिक फसलें लाद दी। लूट का यह क्रम आज भी जारी है। यह अलग बात है कि लूट की इस व्यवस्था को आगे ले जाने का काम आज आज उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कर रही हैं। उन्होंने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी है कि हम खाद्यान्न फसलों के स्थान पर व्यावसायिक फसलें ही पैदा करें। वे जानते हैं कि खाद्यान्न फसलों से उनके अन्तरराष्ट्रीय बाजार और उनके उद्योगों के विकास के लिए कच्ची सामग्री नहीं मिल पाएगी। इसलिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अब गाँव-गाँव जाकर जमीन ठेके पर ले रही हैं और उसमें आलू जैसी फसलें उपजाकर चिप्स आदि का निर्माण कर रही हैं। वह लुभावनी योजनाओं का लालच देकर हमारे किसानों को अपने हितों के अनुरूप इस्तेमाल कर रही है। हमारे किसानों की बदहाली की कीमत पर वह कई गुना लाभ कमा रही है। 1990 की भूमण्डलीकरण की आँधी में विश्व बैंक ने बड़ी तेजी से भूमि सुधार का नारा दिया था। भूमंडलीकृत भूमि सुधार का मतलब निजीकरण से है न कि वामपंथी ढंग का भूमि सुधार से। उदारीकरण की इस भयावह राजनीति में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दुनिया के कोने-कोने भेजा गया है। उसने दुनिया के कोने-कोने में जाकर जमीन खरीदी और उस जमीन की पैदावार को 'पूँजीवादी उत्पाद' में ढाल दिया। 'पूँजीवादी उत्पाद' का मतलब यह कि वे जो सामान तैयार करे उस पर किसी भी सरकार के नियन्त्रण से मुक्त हो, उस पर केवल उसी का नियन्त्रण हो। हमारे यहाँ के पोस्को समझौते के मूल में भी यही अवधारणा काम कर रही है। यानी वे लोग जो पैदा करेंगे उस पर सरकार की कोई नजर नहीं होगी। उसका उपयोग वे जैसा चाहेंगे, वैसा करेंगे। भूमंडलीकृत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारी जमीन खरीदकर उसमें ऐसी व्यापारिक खेती करना चाहती हैं जिससे अमरीका जैसे पूँजीपति देशों के उद्योगों के विकास के लिए कच्चे माल की आपूर्ति हो। इस तरह की सारी चीजें किसानों के विरोध में जाती हैं। जबकि इस देश की 80 से 90 प्रतिशत जनसंख्या आज भी इस देश के किसानों की पैदावार पर निर्भर रहती है।

ज्यों-ज्यों किसान की पैदा करने की क्षमता का क्षय होगा त्यों-त्यों इस देश में खाद्य संकट ही नहीं राजनीतिक संकट भी पैदा होते रहेंगे। संसार भर में खेती और किसानी पर जहाँ कहीं संकट पैदा हुआ है, वहाँ की सत्ता और राजनीति पर इसका सीधा असर पड़ा है। इससे हुई उथल-पुथल से कई देशों की सत्ता तक चली गयी है। वहाँ की राजनीतिक संरचनाएँ तो बदली ही हैं। जिस देश में किसान संकट में होते है वहीं खाद्य संकट पैदा होता है। किसान और खेत-मजदूर विरोधी पूँजीवादी नीतियाँ हमारे देश के विकास में बाधा पैदा करती है। वैसे तो स्वतन्त्रता के बाद से ही ये नीतियाँ जारी रही हैं लेकिन पश्चिमी प्रभाव, विशेषकर भूमण्डलीकरण के बाद इसमें काफी तेजी आयी है। इससे किसान अधिक तबाह हुआ है। भूमण्डलीकरण के बाद के 25 साल इस इस बात के साक्षी रहे हैं कि भारत की जीडीपी में कृषि का हिस्सा लगातार घटता रहा है। इस देश की व्यवस्था को जवाब देना चाहिए कि यह लगातार घट क्यों रहा है? इसके लिए उनकी नीतियाँ जिम्मेवार हैं। जबकि वे लोग बार-बार इस बात पर जोर देते हैं ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि अभी हम ठीक से निजीकरण की नीतियों को लागू नहीं कर पाये हैं। जबकि हकीकत यह है कि हमारी हालत दिनोंदिन बदतर हो रही है। हम नित नये संकट में फंस रहे हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि पूरी दुनिया के इतिहास में जहाँ-जहाँ ऐसे संकट पैदा हुए हैं वे निजीकरण की कोख से ही पैदा हुए हैं। इसके बावजूद हमारी भारतीय सरकार हर बार निजीकरण के दौर में जाती रही है। जबकि यही देश के किसानों के संकट की मूल जड़ है। जब किसान ही संकट में होगा तो वो राष्ट्रीय विकास में योगदान कैसे करेगा? आज भी हमारे देश की 70 फीसदी से अधिक जनता खेती पर निर्भर है और 60 फीसदी से अधिक लोग खेती में लगे हुए हैं। इसके बावजूद वह भूखा है तो इस पर काम होना चाहिए। भूमण्डलीकरण के बाद से 10 लाख किसान आत्महत्या कर चुके हैं। यह हम नहीं आंकड़े कहते हैं। खेत-मजदूर तो आए दिन मर रहे हैं। उनका तो कोई हिसाब ही नहीं है। इसके लिए किसान विरोधी नीतियाँ जिम्मेवार हैं।

जहाँ तक विकास का सवाल है। किसान का सम्बन्ध केवल अन्न से ही नहीं है, उसका सम्बन्ध पशुपालन से भी है। अगर किसान

कमजोर हुआ तो पशुपालन स्वतः कमजोर हो जाएगा। पशुओं का मल-मूत्र खाद और ऊर्जा निर्माण का काम करता है। किसान कमजोर होगा तो हमारी ईंधन व्यवस्था कमजोर होंगी। बहुत सारी फसलें ऐसी है जिनसे हमें जलावन के लिए लकड़ी प्राप्त होती है। किसान फसलों और पशुधन के माध्यम से कई प्रकार के ऊर्जा के देशी संसाधन विकसित करते रहते हैं। लेकिन हमारी जो नीतियाँ हैं उनमें ऊर्जा निर्माण की आत्मनिर्भर ग्रामीण व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है। सरकारी नीतियाँ लगातार घरेलू ऊर्जा तकनीक को हाशिए पर धकेलने का काम करती है। सरकार बड़ी-बड़ी आत्मघाती और महंगी परमाणु बिजली परियोजनाओं को प्रोत्साहित करती है लेकिन गाँवों को आत्मनिर्भर बनाने वाली देशी ऊर्जा तकनीक को हतोत्साहित करती है। जबकि हमारे देश में ऊर्जा निर्माण की ऐसी देशी तकनीक उपलब्ध है जिससे बहुत ही सस्ती दरों पर ऊर्जा की व्यवस्था की जा सकती है। वह ऊर्जा-निर्माण की स्वतः स्फूर्त आन्तरिक व्यवस्था को विकसित होने का अवसर इसलिए भी नहीं देती क्योंकि वह आम लोगों के लिए और सस्ते दामों पर उपलब्ध होगी। अगर वह इसे प्रोत्साहित करेगी तो ऊर्जा निर्माण में लगे औद्योगिक घरानों की अर्थव्यवस्था ही चरमरा जाएगी। जब आम आदमी समृद्ध होगा तो देश के विकास में अपना बेहतर योगदान करेगा। लेकिन सरकार ऐसा नहीं चाहती। उसकी नीतियाँ ऐसी है कि वह स्थानीय और आन्तरिक जरूरतों पर आधारित तकनीक को हतोत्साहित करती है। लेकिन जब हमारे पूँजीपति कोई नयी तकनीक इजाद करते हैं तो वह उसे किसानों पर ऊपर से लाद देती है, उसे खरीदने के लिए मजबूर कर देती है। ऐसी तमाम चीजें विकास विरोधी वातावरण का निर्माण करती हैं, उसमें बाधा डालती हैं।

अगर नीतियाँ भारत की परिस्थितियों को देख कर बनाई जाएँगी तो इससे खेत-मजदूरों और किसान भाइयों के साथ-साथ देश का भी विकास होगा। किसान की आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-भौगोलिक परिस्थितियों और उसकी जीवनगत आवश्यकताओं को जाने बिना यह सम्भव नहीं है। ऊपर से लादी जाने वाली नीतियाँ अन्ततः उसके समूचे जीवन-तन्त्र को बर्बाद कर देती है, उसका जीवन-निर्वहन मुश्किल हो जाएगा। अगर किसान विकास नहीं करेगा तो देश भी विकास नहीं करेगा। देश विकास नहीं करेगा तो संकट बढ़ेंगे। ज्यों-ज्यों संकट बढ़ेंगे, त्यों-त्यों इस देश की सत्ता को चुनौती मिलती रहेगी। मेहनतकश मजदूर-किसान जब हमेशा संकट में रहता है तो व्यवस्था के खिलाफ ही ऊंगली उठाता है। ऐसे में व्यवस्था टिक नहीं सकती। व्यवस्था खत्म हो सकती है, समाज खत्म नहीं हो सकता, आदमी खत्म नहीं हो सकता। कभी-कभी व्यवस्था को यह भ्रम हो जाता है कि वह कुछ भी कर सकती है। लेकिन कहीं भी व्यवस्था हमेशा स्थिर नहीं रही। इस दुनिया में आदिम साम्यवाद, दासप्रथा, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद जैसी व्यवस्था खत्म हुई है। जब इस दुनिया के कई देशों से समाजवादी व्यवस्था तक समाप्त हो गयी तो इस पूँजीवाद की और भूमंडलीकरण की क्या हस्ती है। दरअसल यह सरकार विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्दर जकड़ी हुई है। जिस देश में 10 लाख किसान मरे हों, जिस देश में खेत-मजदूर एक दिहाड़ी मजदूर के रूप में बदल रहा हो, उसकी सरकार में उनके प्रति कोई संवेदना नहीं है तो यह सरकार अन्तोगत्त्वा खुद ही अपने लिए संकट पैदा कर रही है। अगर हमारे देश की बड़ी आबादी अगर संकट में रहेगी तो इस देश की किसी भी व्यवस्था (चाहे वह संसदीय व्यवस्था ही क्यों न हो) में चरमराहट पैदा हो सकती है। व्यवस्था अगर किसान और मजदूर बहुतायत वाली भारतीय जनता के लिए आवाज नहीं उठाएगी तो टिक नहीं पाएगी। धीर-धीरे लोगों में अब यह चेतना बहुत तेजी से बढ़ रही है और अपनी जमीन के लिए, अपनी जमीन से पैदा किए अनाज की हिफाजत के लिए किसान आन्दोलन कर रहे हैं। यह बात दीगर है कि यहाँ की चुनाव प्रणाली सम्प्रदायवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रियता, परिवारवाद की एक ही प्रयोगशाला को लेकर लोगों को ठगता है। इसके विपरित अब यह भी स्थिति आ रही है कि लोग जातिवादी और सम्प्रदायवादी मानसिकता से उपर उठकर सोचने लगे हैं।

अन्ततः समाज का विकास तभी होगा जब श्रम को उत्पादन में लगाया जाएगा। देश के एक अरब बीस करोड़ लोगों के श्रम को कैसे उपयोग में लाया जाए, कैसे उसे एक उत्पादक में बदला जाए। यह काम केवल सेवा क्षेत्र से नहीं हो सकता बल्कि उसे उत्पादन के क्षेत्र में लगाना होगा। जबरन तकनीक बेरोजगारी पैदा करती है। 60 फीसदी लोग आज भी गाँवों में बेरोजगार घूमते हैं। जब खेती का विकास होगा तो उसमें उन्हें भी काम का, सेवा का मौका मिलेगा। मार्क्स ने कहा है कि 'अनएंप्लोयड आर रिजर्व आर्मी।' बेरोजगार नौजवान रिजर्व आर्मी की तरह होता है लेकिन जब वह संगठित और अनुशासित होकर खड़ा हो जाता है तो उसके सामने राज्य की सेना भी नहीं ठहरती। ट्यूनिशिया में हमने सड़कों पर उतरती उनकी ताकत तो महसूस किया है जिससे दस दिनों के अन्दर ट्यूनिशिया के राष्ट्रपति को भागना पड़ा। बेरोजगारी सबसे अधिक गाँवों में है। वह किसानों और खेत-मजदूरों के बीच है। इस बेरोजगारी का परिणाम हम नक्सलवादी घटनाओं के रूप में देख सकते हैं। पोस्को के आन्दोलनों को देख सकते हैं। उनके मूल में हमारी सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ है। यदि ये सभी आन्दोलन एक साथ-एक स्वर के साथ राष्ट्रीय पैमाने पर हो गये तो फिर किसी व्यवस्था के टिकने का सवाल ही पैदा नहीं होता। अगर हमारी सरकार बार-बार यह कहती है कि ये 'लॉ एंड ऑर्डर' का सवाल है तो ये गलत है। देश तभी चलेगा जब आम लोगों को सामाजिक-आर्थिक उन्नति के अवसर मुहैया कराए जाएँगे और हमारी सरकार प्रतिबद्ध होकर उनके लिए काम करेगी। जब तक उसकी वर्गीय चेतना साम्राज्यवाद और विश्व पूँजीवाद के हितों से नहीं कटेगी तब तक खेती-किसानी और ग्रामीण विकास असम्भव है।

पुखराज जाँगिड़ से बातचीत पर आधारित

❑

पंजाब का खेती संकट

गुरदयाल सिंह



बढ़ती आबादी औद्योगिक विकास और शहरीकरण के कारण खेती के लिये जमीन लगातार कम होती जा रही है। ऐसे में सरकार भी यदि खेती को लेकर लापरवाह हो तो स्थिति अत्यन्त मारक हो जाती है।

खेती कभी भी किसी सरकार की प्राथमिकता नहीं रही – न केन्द्रीय सरकार की न राज्य सरकारों की। परन्तु 121 करोड़ तक बढ़ चुकी आबादी के कारण, कुछ समय से, भूखे लोगों को अनाज न मिल पाने के कारण अब खेती योगय ज़मीन के अधिग्रहण के बारे में बिल पास करने की बातें होने लगी हैं, परन्तु यह स्थिति, सत्ता पर काबिज राजनैतिक दलों की योजनाओं के कारण अधिक जटिल होती चली जा रही है। देश के योजना आयोग की प्राथमिकता उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र रहे हैं। कारण यही है कि प्रधानमन्त्री तथा उनके दायें हाथ मौंटेक सिंह यही सोचते रहे हैं कि उद्योगों तथा व्यापारिक क्षेत्रों में वृद्धि से ही देश की मूल समस्याएँ हल हो पाएँगी। परन्तु देश की अस्सी प्रतिशत आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहने के कारण अधिक लोग खेती पर निर्भर हैं। ऐसी दशा पंजाबी के मुहावरे के अनुसार 'साँप के मूँह में छिपकली जैसी है' जिसका अर्थ यह है कि 'खाये तो कोहड़ी, छोड़े तो कलंकी।'

बेशुमार बढ़ रही आबादी को जीवित रखने के लिये खेती की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। सरकार स्वयं मानती है कि चालीस करोड़ से अधिक आबादी गरीबी की रेखा से नीचे रहने के कारण इन्हें दो जून रोटी नहीं मिल पाती। यदि ये लोग गुस्से में उद्दण्ड हो जाएँ तो देश अराजकता की विकट स्थिति में फंस जाएगा। कारण यही है कि व्यक्ति खुले आकाश के नीचे, किसी सड़क के किनारे या खेत में, जलती धूप तथा तापमान के ज़ीरो डिग्री तक नीचे चले जाने की स्थिति में भी जीवित रह सकता है, परन्तु अधिक समय तक भूखों नहीं रह सकता। इधर सरकारें पंजाब के अनाज को गोदामों में सम्भाल नहीं पा रहीं। गले-सड़े अनाज को भूखे लोगों में बाँटने के लिये सुप्रीम कोर्ट ने आदेश भी दिया, परन्तु कोई सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे पायी।

ऐसे तो पूरे देश में खेती समस्याएँ बहुत विकट हैं, परन्तु पंजाब की स्थिति पर इसी कारण अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है कि यही एक प्रान्त है जो देश की खेती योग्य केवल दो प्रतिशत भूमि में से देश को चालीस प्रतिशत से अधिक अनाज देता है। यह कोई मामूली बात नहीं है। परन्तु पंजाब या केन्द्रीय सरकारें पंजाब के किसानों की मूल समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दे पायी हैं।



लेखक ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पंजाबी के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं।
+919779903485

पंजाब के पिछले वित-मन्त्री मनप्रीत सिंह बादल (जो अब नयी राजनैतिक पार्टी बना कर, चल रही सरकार को चुनौती दे रहे हैं) से तब बात हुई जब वे 2009-10 का बजट तैयार कर रहे थे। उनका कहना था कि, 'जब तक, कम से कम, एक-चौथाई किसानों को खेती से बाहर नहीं किया जाता, किसानी की समस्या का कोई समाधान नहीं हो पायेगा। सरकार चाहे किसी दल की हो।' पंजाब के ग्रामीण इलाके में डेढ़ करोड़ की आबादी की एक-चौथाई आबादी पैंतीस लाख से अधिक है। इतनी बड़ी आबादी को खेती छोड़नी पड़े तो इन्हें और क्या काम दिया जाएगा? किसान केवल साधारण मजदूरी कर सकता है। परन्तु पंजाब में मजदूरी का काम बिहारी तथा उत्तर प्रदेश के लोगों ने सम्भाल रखा है। अकेले लुधिआना शहर में सात लाख से अधिक बिहारी मजदूर हैं। पंजाब के सभी क्षेत्रों में उनकी संख्या बढ़ती चली जा रही है। ऐसी दशा में पैंतीस लाख किसान खेती छोड़कर कहां जाएंगे? इसका उत्तर किसी के पास नहीं है।

मालवा क्षेत्र में दो थर्मल प्लांट चल रहे हैं। दो और लगाने की योजना है। पिछले दिनों, एक कम्पनी को आठ सौ एकड़ भूमी अधिग्रहण करने के लिये सरकार ने, किसानों की भूमि पर कब्जा जमाने के प्रयत्न किये, परन्तु कई गाँवों के किसानों ने आन्दोलन शुरू कर दिया। दो अगस्त को हजारों किसान इस आन्दोलन में शामिल हुए तो पुलिस ने लाठी चार्ज किया। एक किसान की मृत्यु हो गयी और अनेक घायल हो गये। कोई समाधान नहीं हो पाया। पुलिस ने उन वाहनों को भी तोड़ फोड़ दिया जिनमें किसान, मानसा जिले के डी. सी. के दफ्तर के आगे जाकर अपना रोष प्रकट करना चाहते थे। यह झंझट इतना बढ़ चुका है कि किसान किसी कीमत पर अपनी भूमि बेचने को तैयार नहीं। परन्तु सरकार अपनी ऐसी 'विकास योजनाओं' को पूरा करने पर अड़ी हुई है जिसका केवल व्यापारी तथा औद्योगिक क्षेत्रों को लाभ हो सकता है, किसानों का इन से कोई लाभ नहीं।

इस स्थिति को किसान की मानसिकता के रूप में भी देखा जा सकता है। सदियों से खेती से सम्बन्धित किसान की मानसिकता, पंजाब में 'सरदारी' से जुड़ी रही है। वह अपने को, दूसरी जातियों के लिये 'दाता' समझता है। सभी जीवत रहने के लिये उसके आगे हाथ फैलाते हैं। सरकार भी उससे 'मालिया', आबिदाना तथा 'चौकीदारा' जैसे कर लेती है। आजादी से पहले कहा जाता था कि किसान को अपने गुजारे के लिये नमक के सिवाये किसी चीज की आवश्यकता नहीं-बाकी सभी चीजें उसे खेती में उपलब्ध हैं। ऐसी मानसिकता के कारण किसान और भूमि के सम्बन्ध इतने गहरे होते चले गये कि वह खेती के सिवाये कोई भी और काम करने को तैयार नहीं। यदि वह खेती छोड़ना भी चाहे तो उसके लिये कोई भी और काम मिल नहीं पायेगा - चौंसठ वर्ष में कोई सरकार, किसान के लिये और काम उपलब्ध नहीं करा पाई। यदि कुछ यत्न किये वे सफल नहीं हो पाये।

पंजाब के किसान की एक और समस्या ऐसी है जिसका कोई भी समाधान सत्ताधारी वर्ग कर नहीं पाये। खेती के मशीनीकरन के कारण तथा भूमि पीढ़ी-दर पीढ़ी बंटने के कारण बहुत कम बची है। पंजाब में प्रति परिवार केवल दो एकड़ से भी कम खेती योग्य भूमि है। इतनी कम भूमि में खेती के काम के लिये, एक-दो व्यक्तियों के लिये भी काम नहीं बच पाया। ट्रैक्टर, खाद्य, कीटाणू-नाशक जहरों की कीमतें आसमान छूने लगी हैं, परन्तु उनकी कीमतों के अनुसार किसानों के अनाज की कीमतें बहुत ही कम बढ़ पायी हैं। ऐसी स्थिति में किसान की आर्थिक स्थिति बहुत विकट होती चली जा रही है। इसी कारण किसानों ने बड़ी मुश्किल से अपने बच्चों को स्कूलों कालिजों में इसलिए भेजना शुरू किया कि वे पढ़-लिख कर कोई नौकरी कर पायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। शायद बहुत कम लोगों को पता होगा कि पंजाब में दो लाख से अधिक तो बी.ए., एम.ए., बी.एड. लड़के, लड़कियां बेकार हैं। बारहवीं कक्षा से लेकर, साधारण बी.ए., एम.ए. तक पढ़े-लिखे नौजवानों की संख्या पचास लाख से अधिक है जिन्हें कोई भी काम नहीं मिल पा रहा।

चारों और जैसे अन्धकार फैला है। ये बेकार युवक अधिकतर किसानों के बेटे, बेटियाँ हैं। यह स्थितियाँ इतनी विकट हो चुकी हैं कि बी.ए., एम.ए., एम.एससी. पास कर चुके लड़के लड़कियाँ, पुलिस या फौज में सिपाही भर्ती होने आ रहे हैं, परन्तु अच्छी सेहत न होने के कारण ही 95 प्रतिशत ऐसी नौकरी भी नहीं ले पाते। कारण यह भी है कि निराशा में ग्रस्त अधिक युवक नशे करने लगते हैं। पहले की तरह, घर में दूध-घी भी नहीं मिल पाता, तो स्वास्थ्य कैसे अच्छा होगा?

ऐसे ही कारणों से पंजाब की किसानी अब तबाही के कगार पर पहुँच चुकी है। किसी ओर कोई आशा दिखाई नहीं देती कि वह ऐसे संकट से बाहर भी आ पायेगी। भूमि तो बढ़ नहीं सकती। आबादी लगातार बढ़ रही है जिसकी ओर किसी सरकार ने कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा।

सत्ताधारी लोग केवल घोटालों में उलझे हैं, विरोधी दल उन घोटालों को लेकर सत्ताधारी दलों पर लगातार हमले करने में ही लगे हैं तो किसानों की विकट समस्याओं की ओर ध्यान कौन देगा? यह ऐसी दशा है कि किसी भी आशा की उम्मीद बेकार लगती है। भविष्य अन्धकारमयी ही नहीं, बहुत भयंकर है। अब यदि सत्ताधारी वर्ग कुछ करना भी चाहे तो भी कोई आशा नहीं कि देश इस संकट से उबर पायेगा- किसानी की बरबादी तो निश्चित है। यह तो साधारण व्यक्ति भी सोच सकता है कि खेती योग्य जमीन यदि 'पॉश कॉलोनियों, सड़कों या ऐसे और 'विकास' के कारण निरन्तर कम होती जाएगी (आबादी इसी तरह और अधिक बढ़ती जाएगी तो खेती योग्य भूमी घटेगी ही - इसका कुछ भी समाधान सम्भव नहीं)।

हमारे सभी राजनैतिक दल ऐसी गम्भीर समस्याओं को संकट बनते देख या तो आँखे मूंद लेते हैं, या केवल एक दूसरे को कोसने में व्यस्त हैं। यह अपने-आप में ही ऐसा बड़ा संकट है कि इसके कम से कम समाधान की आशा भी नहीं बच पायी। बेकार किसान जब चारों ओर से निराश होकर अराजकता पैदा करेंगे तब ही हमारे राजनैतिक दलों की आँख खुल पायेगी, परन्तु उस समय देश को बचा पाने का समय बीत चुका होगा।

❑

जमीन अधिग्रहण की मौजूदा बहस पर

एस.पी. शुक्ला



जमीन अधिग्रहण का अधिकार यदि बाजार के हाथ में चला गया तो वह जमीन को खरीदी-बेची जाने वाली 'सम्पत्ति' की तरह समझेगी। किसान-मजदूर की जिन्दगी के लिए जमीन का अहमियत क्या है यह सरोकार बाजार का नहीं हो सकता। उसके लिए सब कुछ कारोबार है।



लेखक योजना आयोग के पूर्व सदस्य तथा सेंटर फॉर पॉलिसी एनालिसिस के अध्यक्ष हैं।

जमीन अधिग्रहण के मसले पर चल रही मौजूदा बहस दो तरह के मतों में बँटी दिखती है। एक की मान्यता यह है कि जब अधिग्रहण कॉर्पोरेट घरानों के लिए किया जा रहा हो तो सरकार को अपनी जगह बाजार को सौंप देनी चाहिए। लोगों से जमीन लेने के लिए बाजार खुद बेहतर तरीका निकाल लेगा। दूसरी तरफ वे लोग हैं जो सारी जमीन पर राज्य के स्वामित्व वाले एमिनेंट डोमेन के सिद्धान्त को और राज्य की भूमिका को ज्यादा महत्त्व देते हैं, बगैर इस पहलू की तरफ कोई खास तवज्जो दिये कि हासिल या अधिग्रहीत की गयी जमीन का इस्तेमाल किसके हक में हो रहा है। उन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि राज्य ने जो जमीन लोगों से छीनी उसका इस्तेमाल कॉर्पोरेट के हित में हो रहा है या जनता के हित में।

जो यह मानते हैं कि बाजार अपने पैर आगे बढ़ाए, अपना नियन्त्रण बढ़ाए और सरकार अपने कदम पीछे खींचे, उनमें बाजार की सरपरस्ती में चलने वाले विकास के पैरोकार ही नहीं, बल्कि वे लोग भी हैं जो खुद जमीनों के मालिक हैं। जमीन की आसमान छूती कीमतें देख उन्हें भी अपने हिस्से की उम्मीद है। बाजार के अधिक नियन्त्रण वाले सिद्धान्त में बहुत सी विसंगतियाँ हैं और भविष्य में वे बढ़ भी सकती हैं। इसी वजह से राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने इस मामले में अपनी भूमिका बाजार आधारित नीति के पक्ष से दूरी की रखी है। लेकिन साथ ही राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने ऐसी व्यवस्थाएँ और फॉर्मूले भी सुझा दिये हैं जिससे जमीन के मालिकों को जमीन की बढ़ती कीमतों में से बेहतर दाम मिल सकें।

यह समझ पाना मुश्किल नहीं है कि बाजार के जिम्मे जमीन अधिग्रहण छोड़ने का सिद्धान्त बिल्कुल व्यावहारिक या टिकाऊ नहीं है क्योंकि बाजार जमीन की कीमत किसी भी और खरीदने-बेचने वाली चीज या संसाधन की तरह ही लगाएगा और इस बात से बाजार को कोई सरोकार नहीं है कि जमीन की लोगों की जिन्दगी में क्या सामाजिक अहमियत या कीमत है। जबकि

जमीन दरअसल इंसान के अस्तित्व और सभ्यता की बुनियाद है। हालाँकि जमीन पर निजी मालिकाना हक है लेकिन बाजार जमीन का बन्दोबस्त नहीं कर सकता। यह बात न केवल पहले स्पष्ट थी, जब योजनाओं के आधार पर देश को आगे बढ़ाया जाता था, बल्कि उसके भी पहले, औपनिवेशिक काल में, जब आदिवासी समुदायों और अनुसूचित क्षेत्रों के लिए जमीन सम्बन्धी कानूनों में विशेष नियम-कायदे बनाये गये थे, तब उनसे भी बाजार को दूर रखा गया था। एमिनेंट डोमेन के सिद्धान्त में बेशक अनेक खामियाँ हैं जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे, लेकिन उसमें कम से कम इतना आधार तो माना गया है कि जमीन लोगों की जिन्दगी के लिए अन्य बाजार में बिकने वाली चीजों से ज्यादा अहमियत रखती है। बाजार के जमीन पर नियन्त्रण वाले सिद्धान्त में ये आधार नहीं है। वैसे भी जमीन पर बाजार के नियन्त्रण को पहले कभी स्वीकार नहीं किया गया। इसे पिछले बीस वर्षों में ही मान्यता मिलने लगी है जब से बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के सुधार शुरू हुए हैं। इससे भी ज्यादा साफ वजह यह है कि जमीन और रीयल एस्टेट के क्षेत्र में बड़े-बड़े फण्ड उड़ेल दिये जाने से इस क्षेत्र में सट्टेबाजी बेतहाशा बढ़ी है और उससे जमीन के सौदों में जबर्दस्त उछाल आया है। जमीन अधिग्रहण कानून के मामले में जिस किसान तबके का समर्थन राज्य के सर्वाधिकार (एमिनेंट डोमेन) के खिलाफ और बाजार आधारित व्यवस्था के पक्ष में है, उसकी सोच के पीछे जमीन के दामों में बाजार की लाई यही सट्टेबाजी काम कर रही है। पहले, यानी आर्थिक सुधार कार्यक्रम देश में लागू होने के पहले जमीन अधिग्रहण के मामले में सरकार की भूमिका को लेकर ऐसा तीव्र और व्यापक विरोध कभी खड़ा नहीं हुआ। उसकी सीधी सी वजह यह थी कि इतने बड़े पैमाने पर सरकार ने कभी जमीन का अधिग्रहण किया ही नहीं था। जमीन खोने वालों की संख्या कम रहने के साथ ही ज्यादातर अधिग्रहण सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों आदि के लिए किया गया था और जमीनों के भाव में सट्टेबाज तेजी नहीं थी।

सवाल यह है कि अगर बाजार की तरफ झुकाव वाली सोच अव्यावहारिक है तो क्या राष्ट्रीय सलाहकार समिति की संवैधानिक शर्तें व संशोधन शामिल करने के बाद भी राज्य के नियन्त्रण (एमिनेंट डोमेन) पर आधारित सोच से इस समस्या का हल निकल सकता है?

राष्ट्रीय सलाहकार समिति का यह कहना तो बिल्कुल दुरुस्त है कि पुराने समय से चले आ रहे मौजूदा भूमि अधिग्रहण कानून को समाप्त कर नया कानून बनाया जाना चाहिए, न कि पुराने में ही संशोधन करने चाहिए। लेकिन उसके आगे नये कानून के लिए समिति की जो सलाहें व अनुशंसाएँ हैं उससे मौजूदा कानून का बुनियादी चरित्र नहीं बदलने वाला। समिति ने 'सार्वजनिक उद्देश्य' की परिभाषा को सीमित करने की सलाह का तो स्वागत किया है लेकिन अधोसंरचनागत परियोजनाओं के सार्वजनिक-निजी-साझेदारी वाले पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप वाले मॉडल पर सवाल नहीं उठाने से अन्ततः मामला जैसा था, वैसा ही रह जाता है। इस मॉडल के जरिये कॉर्पोरेट को मुनाफा दिलाने वाली किसी भी परियोजना को 'सार्वजनिक हित के उद्देश्य' की श्रेणी में आसानी से डाला जा सकता है।

समिति ने इस कानून में यह बात भी जरूरी तौर पर शामिल करने की सलाह दी है कि कॉर्पोरेट सेक्टर को यह साबित करना होगा कि जो जमीन अधिग्रहित की जानी है वह सार्वजनिक उद्देश्य के लिए है। अब ऐसा सोचना नादानी होगी कि इससे सार्वजनिक उद्देश्य शब्द का दुरुपयोग रुक जाएगा या सार्वजनिक उद्देश्य के दायरे को कॉर्पोरेट अपने अनुसार बदल नहीं पाएगा।

इसी तरह, समिति का यह सुझाव भी अच्छा है कि किसी भी परियोजना के लिए जमीन अधिग्रहण करने से पहले उस परियोजना की आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय लागत और उससे होने वाले फायदे का विश्लेषण किया जाए। लेकिन जब निवेश बाजार द्वारा तय की गयी प्राथमिकताओं, निवेशकों की सुविधा वाली नीतियों और वैश्विक होड़ में हमारी जगह के आधार पर होना है तो कोई परियोजना कितनी श्रेष्ठ है, इसकी कसौटी भी यही ताकतें तय करती हैं। ऐसे में यह समझना मुश्किल नहीं है कि किसी परियोजना के लागत-लाभ विश्लेषण में सामाजिक और पर्यावरणीय मसलों को किस हद तक दरकिनार किया जाएगा।

समिति का यह सुझाव भी काफी अहम है कि किसी परियोजना के लिए भूमि अधिग्रहण करने के पहले ऐसे विकल्प तलाशे जाएँ जिनमें विस्थापन की जरूरत ही न पड़े, और अगर लोगों को विस्थापित करना भी हो तो विस्थापन कम से कम हो। इस सुझाव को भी ठीक तरह से तभी लागू किया जा सकता है जब परियोजना के लिए अन्यत्र उपलब्ध जमीन के पूरे नक्शे हों, जमीन की मौजूदा गुणवत्ता और उपयुक्तता तथा सम्भावित गुणवत्ता और उपयुक्तता की पूरी जानकारी हो और जमीन तथा उससे जुड़ी आजीविका के चक्र की वर्तमान व सम्भावित स्थितियों का सम्पूर्ण गहन अध्ययन हो।

संक्षेप में, राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने नये भूमि अधिग्रहण कानून को कामयाबी से लागू करने के जो तरीके, परीक्षण और आधार सुझाये हैं वे दरअसल एक ऐसी सम्पूर्ण सुगठित भूमि उपयोग नीति का ही सूत्र रूप हैं जो जनकेन्द्रित, कुदरत की हितैषी, क्षेत्रीय विशेषताओं के अनुकूल और वैज्ञानिक आधारों वाली हो। इस तरह की भूमि उपयोग नीति का उद्देश्य खाद्य सुरक्षा हासिल करना, जैव-विविधता को संरक्षित करना और उन

आर्थिक सुधार कार्यक्रम देश में लागू होने के पहले जमीन अधिग्रहण के मामले में सरकार की भूमिका को लेकर ऐसा तीव्र और व्यापक विरोध कभी खड़ा नहीं हुआ। उसकी सीधी सी वजह यह थी कि इतने बड़े पैमाने पर सरकार ने कभी जमीन का अधिग्रहण किया ही नहीं था।

सबकी जिन्दगी को बेहतर बनाना होगा जिनकी आजीविका जमीन पर निर्भर है। एक ऐसी समस्या के लिए जो व्यापकता, दूरदर्शिता और नीतिगत स्तर से ही ठीक हो सकती है, राष्ट्रीय सलाहकार समिति बता रही है कि हर परियोजना में अलग-अलग तरीके अपनाये जाएँ, यानी बड़ी बीमारी के लिए छोटे-छोटे इलाजों का सुझाव दे रही है। ऐसा करके राष्ट्रीय सलाहकार समिति पेड़ बचाने के लिए जंगल को बलि चढ़ जाने की मिसाल कायम कर रही है।

राष्ट्रीय सलाहकार समिति के नजरिये में एक और परेशानी है। इसने अपनी पूरी अच्छी मंशा के साथ मुआवजे के लिए जो फॉर्मूला सुझाया है वे जमीन की कीमत से कम से कम छः गुना ज्यादा का है। इसी के साथ इसने यह प्रस्ताव भी किया है कि अधिग्रहित जमीन की अगले दस वर्षों में जितनी बार भी बिक्री होगी, उसमें होने वाले मुनाफे का 20 प्रतिशत हर बार असली भूस्वामि को हासिल होगा। राष्ट्रीय सलाहकार समिति के ये सारे प्रयास किसी बीमारी के लक्षणों का इलाज करने के हैं न कि बीमारी की जड़ को पकड़ने और उसे मिटाने के। और भी साफ कहा जाए तो यह लोकप्रियतावादी ज्यादा हैं। असल मुद्दा यह नहीं कि सट्टेबाजी से हासिल होने वाली पूँजी को जमीन के मालिक और खरीददार के बीच बाँटा कैसे जाए। असल समस्या है जमीन के बाजार में बेहिसाब बढ़ती हुई सट्टा पूँजी, उससे बनने और बढ़ने वाला जमीन की कीमत का बुलबुला, और उससे जमीन के उपयोग पर पड़ने वाले दीर्घकालीन और अल्पकालीन असर।

जब जमीन की कीमतें आसमान छूएँगी तो जमीन का इस्तेमाल वास्तविक सामाजिक और आर्थिक जरूरतों के लिए न होकर सट्टे में मुनाफे के लिए होने से कोई रोक नहीं सकेगा। इन पहलुओं पर राष्ट्रीय सलाहकार समिति पूरी तरह खामोश है। जरूरत है जमीन की खरीद-फरोख्त से बनने वाले सट्टा पूँजी के इस बुलबुले को फोड़ने की। जरूरत है पूरी व्यवस्था को विकृत करने वाले कारण को जड़ से उखाड़ फेंकने वाले सख्त कदम की, सारी कृषि भूमि के हस्तान्तरण या बिक्री पर और कृषि भूमि के गैर-कृषि उपयोग पर पूरी तरह रोक लगाने की। खासतौर पर खेती की जमीन को किसी भी स्थिति में कॉर्पोरेट को सौंपने पर पूरी तरह पाबन्दी लगाने की जरूरत है।

ऐसी पाबन्दी की माँग उठाने पर एक सवाल यह उठता है कि फिर उन जरूरतों का क्या होगा जो खेती से नहीं लेकिन जमीन से जरूरी तौर पर जुड़ी हैं और जो वाकई जायज भी हैं। मसलन देश की इतनी बड़ी गरीब व मध्यमवर्गीय आबादी के लिए आवास की जरूरतों का क्या होगा, या अस्पतालों, स्कूलों, सड़कों, सिंचाई परियोजनाओं का क्या होगा? उनके लिए भी तो जमीन की ही जरूरत होगी। जाहिर है कि ऐसी पाबन्दी कोई हमेशा के लिए या अनिश्चितकाल के लिए नहीं होगी। और फिर स्थानीय समुदायों के साथ विचार-विमर्श कर उनकी सहमति से अपवादों के मामलों पर हमेशा ही विचार किया जा सकता है। ऐसी प्रस्तावित निषेधाज्ञा का मकसद दरअसल कॉर्पोरेट कम्पनियों और सट्टा पूँजी को जमीन से दूर रखना है जो इस बिगड़ी हुई हालत के लिए बुनियादी तौर पर जिम्मेदार हैं।

छोटे किसान तैयार नहीं हैं, उनके प्रति क्या रवैया अपनाया जाए। छोटे किसानों का एक हिस्सा ऐसा भी है जो जमीन से अपनी बेदखली का तीव्र विरोध कर रहा है और उसके लिए मुआवजे की मोटी रकम या उचित मुआवजा या वैकल्पिक रोजगार का सवाल कोई मायने नहीं रखता। उन्हें किसी भी हालत में अपनी जमीन से हटना गवारा नहीं है।

राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने आजीविका के सवाल पर काफी जोर दिया है जो बिल्कुल सही है। समिति की सलाहों में कहा गया है कि जो लोग भूमि अधिग्रहण की वजह से विस्थापित होते हैं उनके लिए पहले से बेहतर और सम्मानजनक आजीविका के प्रावधान किये जाएँ। लेकिन ऐसा लगता है कि यहाँ भी एक प्रमुख मसले को समिति ने हाशिये पर छोड़ दिया है। वह मसला है- अपनी जमीन बेचने के प्रति जो छोटे किसान तैयार नहीं हैं, उनके प्रति क्या रवैया अपनाया जाए। छोटे किसानों का एक हिस्सा ऐसा भी है जो जमीन से अपनी बेदखली का तीव्र विरोध कर रहा है और उसके लिए मुआवजे की मोटी रकम या उचित मुआवजा या वैकल्पिक रोजगार का सवाल कोई मायने नहीं रखता। उन्हें किसी भी हालत में अपनी जमीन से हटना गवारा नहीं है। उनके लिए किसानी कोई फायदे का सौदा हो, ऐसा नहीं है। अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए वे और ज्यादा, तथा दूसरे-दूसरे काम करने के लिए तैयार हैं लेकिन वे अपनी जमीन नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि उनके पास वही एकमात्र सुरक्षा है। राष्ट्रीय सलाहकार समिति को सारी जमीन पर राज्य के स्वामित्व वाले एमिनेंट डोमेन के सिद्धान्त पर आधारित मौजूदा भूमि अधिग्रहण कानून के बदले किसी कथित सार्वजनिक उद्देश्य और उचित कारण के चलते लोगों को उनकी जमीन से बेदखल करना मंजूर है।

इसी तरह, सत्तर प्रतिशत सहमति के मामले में भी राष्ट्रीय सलाहकार समिति का नजरिया साफ नहीं है। नये विधेयक के मसौदे में राज्य के स्वामित्व वाले एमिनेंट डोमेन के सिद्धान्त को संशोधित रूप में लागू करने का एक बिन्दु यह है कि अगर कॉर्पोरेट क्षेत्र के किसी प्रोजेक्ट के लिए जमीन अधिग्रहण करना है तो जमीन के मालिक सत्तर प्रतिशत किसानों को अपनी जमीन अपनी मर्जी से बेचने के लिए तैयार होना चाहिए। बाकी तीस प्रतिशत जमीन के मालिक किसान अगर असहमत भी हैं तो भी सरकार अपनी जमीन बेचने के लिए उन पर दबाव डाल सकती है। एक तरह से राष्ट्रीय सलाहकार समिति ने ऐसा प्रावधान मानकर पुराने भूमि अधिग्रहण कानून के मॉडल को ही स्वीकार कर लिया है। फर्क यही है कि वह सिद्धान्त में सौ प्रतिशत के लिया था और यह तीस प्रतिशत के लिए है। लेकिन सिर्फ सिद्धान्त में।

हालाँकि राष्ट्रीय सलाहकार समिति

विस्थापितों के पुनर्वास के लिए जमीन के बदले जमीन के सिद्धान्त की जोरदार वकालत करती है लेकिन यह उन छोटे किसानों को खातिर में नहीं लाती जो भले तीस प्रतिशत हों लेकिन जो अपनी जमीन से बेदखली किसी भी कीमत पर नहीं चाहते। जबकि ऐसे मामलों में न्यायसंगत और तर्कसंगत नजरिया यह होना चाहिए कि कॉर्पोरेट और राज्य मिलकर किसी अन्य जगह की तलाश करें। दूसरे शब्दों में, 'सारी जमीन पर राज्य का हक है (एमिनेंट डोमेन)' के सिद्धान्त को ऐसे सिद्धान्त की जगह बनानी चाहिए जिसमें जमीन और उससे जुड़ी आजीविका के रिश्ते का सम्मान हो।

इसी से सम्बन्धित एक और प्रत्यक्ष पहलू है छोटे और सीमान्त किसानों द्वारा मजबूरी में या किसी जरूरत के वक्त अपनी जमीन औने-पौने दामों में जमीन के बाजार के बिचौलियों को बेच दिये जाने का। जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर खेती करके जीवन-यापन करना छोटे व सीमान्त किसानों के लिए आर्थिक रूप से व्यवहार्य नहीं होने से वे गरीब किसान अपनी जमीन, वक्त पर जो दाम मिल जाएँ, उस पर अपनी जमीन बेच देते हैं। अगर वह दाम उनकी जरूरत से ज्यादा हो तो न बेचने के विकल्प के बारे में वे और भी कम सोचते हैं। किसी किसान की अपनी ऐसी जरूरत के वक्त लिया जाने वाला यह आर्थिक निर्णय उसके लिए निजी तौर पर सही हो सकता है, लेकिन इस निर्णय के नतीजे केवल उस तक ही सीमित नहीं होते बल्कि उसके प्रतिकूल सामाजिक असर भी होते हैं। वे असर जमीन खोने के बाद उस किसान के देश की विशाल बेरोजगार आबादी या मजदूरों की रिजर्व फौज का हिस्सा बन जाने से लेकर देश में खेती की जमीन घट जाने से अनाज की पैदावार कम हो जाने के रूप में भी हो सकते हैं। चूँकि यह एक सीधा-सच्चा बाजार का गणित है इसलिए कानून से इसे रोका नहीं जा सकता। इसे यूँ भी समझा जा सकता है कि बाजार की शक्तियाँ बड़े पैमाने पर ऐसा विस्थापन कर सकती हैं जिसमें काफी सामाजिक कीमत भी चुकानी पड़ती है। और ऐसा दरअसल ये कर चुकी हैं।



यह सही है कि कि यह मामला जमीन अधिग्रहण के सीमित दायरे के बाहर है और राष्ट्रीय सलाहकार समिति उसी दायरे के भीतर ही सोच रही है। लेकिन भूमि का उपयोग सामाजिक रूप से भी पूरी तरह ठीक हो, उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि खेती की जमीन का सिकुड़ना बन्द हो। हाल के बरसों में भूमि अधिग्रहण का जितना प्रतिरोध हुआ है, उससे केवल भूमि अधिग्रहण कानून या नीति की खामियाँ ही उजागर नहीं होतीं बल्कि यह भी पता चलता है कि भूमि उपयोग के मामले में हमारी कोई नीति ही नहीं है। नये भूमि अधिग्रहण विधेयक के मसौदे पर अपने विचार रखते हुए राष्ट्रीय सलाहकार समिति को इस पहलू को भी ध्यान में रखना था। और जैसे ही जमीन के उपयोग की नीति का सवाल आता है तो उससे अभिन्न तौर पर जुड़ी देश की खेती और उससे जुड़े समाज के ढाँचे की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह सच है कि इसके विस्तार में जाने के लिए बड़े फलक की जरूरत होगी लेकिन इतना कहा जाना जरूरी है कि हमारे कृषि समाज के ढाँचे की एक बहुत बड़ी सीमा हमारे अधिकतर किसानों के पास मौजूद छोटे-छोटे आकार की जोतें हैं। सीधी सी बात है कि अगर जमीन का उपयोग इस तरह करना है कि वह समाज के लिए यथासम्भव दीर्घकालीन उपयोगी रह सके तो जोतों के छोटे आकार से मुक्ति एक जरूरी कदम होगा। छोटी-छोटी जोतों के मालिक ढेर सारे छोटे और बड़े किसानों को अपनी जमीन एक साथ मिलाकर सामूहिक खेती की दिशा में आगे बढ़ना होगा, यही इसका संक्षिप्त, सूत्ररूप में जाहिर जवाब है।

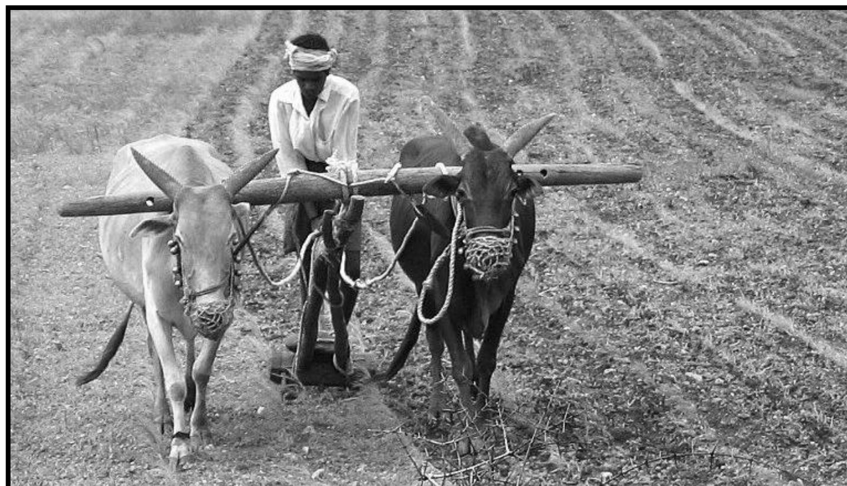
कुल जमा ऐसा लगता है कि जमीन अधिग्रहण के मामले पर चल रही बहस के दोनों पक्ष एक बड़ी समस्या के एक छोटे हिस्से पर ही ध्यान केन्द्रित किये हुए हैं। इस बहस से, बेशक पुराने कानून की अप्रासंगिकता, और अन्यायपूर्ण सोच का आधार तो सामने आता है, लेकिन यह बहस अपने आपको उस जगह पहुँचकर बंद कर लेती है जहाँ जमीन का बुनियादी सवाल सामने आता है जबकि, दरअसल, जमीन अधिग्रहण का सवाल जमीन के व्यापक सवाल का ही एक छोटा सा हिस्सा है। नीति के व्यापक सवालों के हल कभी भी छोटे-छोटे सुधारों की जगह नहीं ले सकते। एक तरफ तो हमें आगे और तबाही रोकने के लिए कुछ फौरी कदम उठाना जरूरी है, और दूसरी तरफ, हमें जमीन के बेहतर उपयोग का नया मॉडल विकसित करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा जिसकी बुनियाद जमीन को बाजार के नफे-नुकसान वाले दायरे से बाहर लाने पर होगी और जिसकी बुनियाद इस सोच पर होगी कि जमीन हमारे अस्तित्व और सभ्यता की आधार है।

अनुवाद-विनीत तिवारी

❑

जैविक खेती की जरूरत

घनश्याम



जहरीले कीननाशकों और रासायनिक खादों के अत्यधिक उपयोग ने न सिर्फ खेती का सर्वनाश किया है बल्कि कई जानलेवा बीमारियों के माध्यम से मानव समाज के लिए मृत्यु का द्वार खोल दिया है। ऐसे में जैविक खेती मानव सभ्यता के लिए एक बड़ी जरूरत बन गयी है।



लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और 'जुड़ाव' के प्रमुख हैं।
judav_jharkhand@yahoo.com
09431101974

आज पूरी दुनिया भयंकर खाद्य संकट और जलवायु संकट के दौर से गुजर रही है। एक तरफ इसके लिए सत्ताधीश चिन्तित हैं तो दूसरी तरफ समाज नवनिर्माण की प्रक्रिया में लगे समाजकर्मी न सिर्फ चिन्तन कर रहे हैं, बल्कि जमीनी प्रयोग करने की दिशा में सक्रिय हैं। इसके लिए यह जरूरी है कि उक्त दोनों संकट की गम्भीरता और उससे उबरने के उपाय पर मौलिक चिन्तन किये जाएँ। इसके लिए परम्परा की जड़ की तलाश करनी होगी तथा परम्परा का परिष्कार करते हुए आगे बढ़ना होगा। साथ ही चकाचौंध वाली आधुनिकता और कथित विकास के मकड़जाल से निकलना होगा। देशज खेती से सम्बन्धित चिन्तन के कुछ सांस्कृतिक पहलू पर ध्यान खींचने की कोशिश यहाँ की जा रही है।

भयंकर खाद्य संकट के इस दौर में आज हर जगह देशज खेती पर बड़े जोरों से चर्चा हो रही है। इसे जैविक खेती या सजीव खेती के नाम से भी कहा जाता है। भूमण्डलीकरण के आज के दौर में देशज खेती की उपयोगिता पर बहस इस बात का संकेत है कि दुनिया पुनर्चिन्तन के दौर से गुजर रही है। इस पुनर्चिन्तन को गम्भीरता से समझने की जरूरत है। पुनर्चिन्तन में शामिल लोग तीन खेमों में विभाजित हैं। पहला खेमा मानता है कि विकास का जो सिलसिला चल पड़ा है, उसमें प्रकृति को विनष्ट कर इंसान अपनी जरूरत की तमाम चीजें पा सकता है। प्रकृति का यह विनाश उसे भौतिक विकास की ओर ले जाएगा। यह चिन्तन मानता है कि जीने की आवश्यक सामग्री अगर धरती पर सम्भव न हो तो अन्य ग्रहों और उपग्रहों पर जुटाई जा सकती है। इस सामग्री में जीविका की सामग्री भी निहित है। इसलिए यह खेमा दूसरे ग्रहों–उपग्रहों पर हवा और पानी की तलाश में जुट गया है। कभी यह मंगल की तरफ भागता है तो कभी चन्द्रमा पर विचरण करता है।

दूसरा खेमा मानता है कि पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं, उनमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए मनुष्य के जिन्दा रखने के लिए अन्य प्राणियों को शिकार बनाया जा सकता है। यह उसका अधिकार है। यह खेमा मनुष्य को जिन्दा रखने के लिए, उसे कथित विकास की

ओर ले जाने के लिए कई प्रयोग कर रहा है। उन प्रायोगों के लिए वह अन्य प्राणियों को माध्यम बना रहा है। मनुष्य 'अमर' कैसे हो, यह भी 'प्रयोग' का विषय है। इसके लिए अन्य प्राणियों को मौत के मुँह में धकेलकर उनके जिन्दा रहने की जद्दोजहद करना प्रयोग का हिस्सा है।

एक तीसरा खेमा भी है। यह उक्त दो खेमों से अलग इस चिन्तन की ओर पूरी दुनिया का ध्यान आकृष्ट कर रहा है कि सृष्टि का निर्माण जीवों के परस्परावलम्बन और उनके सम्पोषण से हुआ है। सृष्टि, निर्माण और विकास की यह प्रक्रिया करोड़ों वर्षों के नैसर्गिक सन्तुलन और सम्पोषण की बुनियाद पर टिकी है। मनुष्य उन प्राणियों में से एक प्राणी है जो अपेक्षाकृत विकसित और परिष्कृत है। इस अर्थ में मनुष्य के ऊपर अपने कर्तव्य का दोहरा दायित्व आन पड़ा है। पहला, परस्परावलम्बन की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहे। दूसरा यह कि दूसरे प्राणियों को क्षति पहुँचाने वाली प्रक्रिया के खिलाफ वह अपना संघर्ष जारी रखे। यानी संघर्ष और निर्माण की दोहरी प्रक्रिया का दायित्व इंसान को उठाना है। सजीव खेती इसी प्रक्रिया की एक कड़ी है। खेती जिसे अँग्रेजी में 'एग्री-कल्चर' कहते हैं, का सीधा सम्बन्ध संस्कृति से है और संस्कृति का सम्बन्ध मूल्य से। इस अर्थ में सजीव खेती मूल्य आधारित संस्कृति को पल्लवित और पुष्पित करने की कला है। सिर्फ कला नहीं। विज्ञान भी। कुल मिलाकर एक जीवन-दर्शन। औद्योगिक सभ्यता में औद्योगिक मूल्य ने 'एग्रीकल्चर' को 'एग्रो-इंडस्ट्री' में बदलने की कोशिश की है। वह मनुष्य को संस्कृतिविहीन और मूल्यविहीन बनाने की सायास पहल साबित हो रही है। आज टकराहट इन्हीं के बीच है—मूल्य आधारित प्रक्रिया और मूल्यविहीन पहल के बीच कथित औद्योगिक सभ्यता तकनीक को आधार बनाकर अपना लक्ष्य पाना चाहती है। इसका लक्ष्य है अधिक से अधिक पूँजी का निर्माण। और यह पूँजी व्यक्ति केन्द्रित होती चली जाती है। पूँजी एक ऐसा उपादान है जिसका उपयोग बहुआयामी हित में हो सकता है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब पूँजी समुदाय की थाती बने न कि व्यक्ति की सम्पत्ति। पूँजी प्राकृतिक धरोहर और श्रम के समायोजन से पैदा होती है। इसलिए पूँजी पर समाज, मानव (समुदाय) सहित मनावेतर प्राणियों का भी अधिकार है।



सजीव खेती महज परम्परा का परिष्कार नहीं है। यह प्रकृति और संस्कृति के सम्पोषण का दूसरा नाम है। इंसान के श्रम, पशु की ऊर्जा और अन्य प्राणियों के स्वेदन के जोड़ की यह लोकविद्या नये जीवन का निर्माण करती है।

लेकिन आज इस पूँजी का मुट्ठी भर लोगों की सुख-सुविधा और भोग-विलास में उपयोग किया जाता है। आधुनिक खेती इसी की देन है जिसमें मुनाफा निहित है लेकिन मनुष्यता गायब। भोग इंसान की गरिमा और इंसानियत की भव्यता को नष्ट करता है, उसे अधिकाधिक व्यक्ति केन्द्रित बनाते हुए विकृति की ओर ले जाता है। जहाँ भावप्रवणता इंसान की गरिमा को समृद्ध करती है और उसे संस्कृति की ओर ले जाती है, जहां से परस्परावलम्बन और सम्पोषण की पद्धति समवेत होती चलती है। इस अर्थ में सजीव खेती सम्पोषण और परस्परावलम्बन की प्रक्रिया को और प्रांजल (सरल और स्पष्ट) बनाती है।

सजीव खेती महज परम्परा का परिष्कार नहीं है। यह प्रकृति और संस्कृति के सम्पोषण का दूसरा नाम है। इंसान के श्रम, पशु की ऊर्जा और अन्य प्राणियों के स्वेदन के जोड़ की यह लोकविद्या नये जीवन का निर्माण करती है।

जैविक खेती का सीधा रिश्ता प्रकृति के अन्य उपादानों से जुड़ा है। जंगल, जल और जानवर सजीव खेती को आगे बढ़ाने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। मिट्टी जितनी सजीव होगी, पानी जितना सजीव होगा तथा जंगल जितना वैविध्यपूर्ण होगा, सजीव खेती उतनी ही समृद्ध होगी। भू-आकृति और भू-भाग को ध्यान में रखकर हमारे पूर्वजों ने खेती के जिस शास्त्र का निर्माण किया, वह न सिर्फ विकसित थी बल्कि परस्पर पूरक भी थी। इस खेती में हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मानव और मानवेतर प्राणी का रिश्ता जितना सघन होगा खेती उतनी ही समृद्ध और जीवनदायिनी होगी। रस-सुगंध से सुविकसित खेती इंसान के जीवन को भी सरस, मधुर और सुसंस्कृत बनाती है। जीवन गतिमान हो उठता है और मानवता गरिमापूर्ण। मनुष्य का गरिमायुक्त जीवन उसे व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाता है। ऐसी स्थिति में इंसान अपनी परिधि से बाहर निकलकर समष्टि की असीम परिधि से अपना रिश्ता जोड़ता है और अपने को मुकम्मल इंसान बनाने की चेष्टा करता है। मुक्कमल इंसान का मतलब मूल्यों को जीने वाला इंसान। इस अर्थ में सजीव खेती महज एक तकनीक नहीं बल्कि जीवनमूल्य है। जब हम सजीव खेती को इस दृष्टि से देखेंगे और जीएंगे तभी हम आज की बाजारू खेती और मूल्यविहीन भूमण्डलीकरण का मुकाबला कर सकेंगे। जलवायु संकट और खाद्य संकट से उबर सकेंगे। ❑

जमीन का सवाल और खेती का संकट

विनीत तिवारी



अँग्रेजी राज के पहले से ही भारत में जमीन के वितरण में घोर असमानता थी। भूमि स्वामित्व के इन सामन्ती सम्बन्धों को औपनिवेशिक शासन ने और बिगाड़ा। आजादी के 64 वर्षों के बाद भी भूमि सुधार की स्थिति बदतर बनी हुई है।



लेखक जोशी अधिकारी सामाजिक संस्थान अध्ययन के राष्ट्रीय कोर ग्रुप के सदस्य हैं।
comvineet@gmail.com
+919818175205

सारा देश मानता है कि देश में कृषि संकट खतरनाक हदें पार कर चुका है। सरकार और उनके सलाहकार भी यह मानते हैं। लेकिन उनके मुताबिक खेती का संकट खेती की पैदावार, खेती की लागत, फसल के रोगों और कीड़ों का और बाकी तमाम बारीक चीजों का संकट है। जिनका आशय खेती के संकट से सिर्फ फसलों और तकनीक तक सीमित है, वे उस संकट से नयी तकनीक लाकर, पैदावार और उत्पादकता बढ़ाकर निपटना चाहते हैं। वे फल, फूल व ऐसी फसलें उगाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उनके लिए सरकारी समर्थन जुटाते हैं जिनकी माँग विश्व बाजार में बहुत ज्यादा है।

जबकि, खेती का संकट सबसे पहले और सबसे ज्यादा दरअसल खेती में काम करने वाले और खेती के साथ जुड़ी हुई तमाम दूसरी गतिविधियों में लगे लोगों की जिन्दगियों, उनकी रोजी-रोटी, और हाड़तोड़ मेहनत के बाद पैदा होने वाली फसल के बँटवारे का संकट है। इसलिए जब हम खेती के संकट की बात करते हैं तो सबसे प्रमुख सवाल उस संसाधन की उपलब्धता और बँटवारे का है जो खेती का सबसे मुख्य आधार है, और वह है-जमीन। आदिवासी इलाकों में किसी आदिवासी द्वारा किसी गैर-आदिवासी को जमीन बेचना कानूनन प्रतिबन्धित है लेकिन अच्छे भाव पाकर या मजबूरी में गये-गुजरे भावों पर भी या उधार की रकम के एवज में आदिवासियों की जमीन पर गैर-आदिवासी काबिज है। इन्दौर से सेंधवा के रास्ते में आगरा-मुम्बई राजमार्ग पर बने विशाल ढाबे आदिवासियों की जमीन पर बने हैं जिनके मालिक गैर-आदिवासी हैं। और जिनकी असल में वो जमीन है, वह कहीं इन्दौर, भोपाल में दिहाड़ी मजदूरी कर रहे होंगे।

मुरैना, श्योपुर से लेकर गुना, अशोकनगर और होशंगाबाद, इटारसी तक कितने ही ऐसे मामले सामने आये हैं जहाँ पंजाब के किसानों ने आकर जमीन खरीदी हैं। वे अपनी पंजाब की अनुपजाऊ या कम उपजाऊ होती जमीन को ऊँची कीमत में बेचकर दूसरी जगहों पर

सस्ती जमीन खरीदकर संसाधन सम्पन्न खेती कर रहे हैं और मुनाफा कमा रहे हैं। स्थानीय किसान जमीन बेचकर किसान की श्रेणी से खिसककर असंगठित मजदूरों की विशाल फौज का हिस्सा बन रहे हैं। उनकी सुरक्षा कोई कानून नहीं कर पा रहा है।

दादरी से लेकर नोएडा और भट्टा पारसौल तक, और नर्मदा पर बनने वाले बाँधों से जिनकी जमीन गयी और जाती जा रही है, उन सब तक की लड़ाई में जमीन की कीमत या मुआवजे की रकम एक अहम मुद्दा रहा है। बाँध विरोध की अनेक लड़ाइयाँ जो पर्यावरण, विकास, लाभ-लागत के बड़े मुद्दों पर शुरू हुई थीं, उन्हें भी सरकार द्वारा जमीन छीन लिए जाने पर अन्ततः सही मुआवजे की माँग पर संघर्ष करना पड़ा। हरसूद को हम सबने बहुत नजदीक से देखा कि कैसे सरकार ने ज्यादा मुआवजे का लालच देकर लोगों से खुद अपने घर तुड़वाये।

दूसरी तरफ अपनी जमीन के लिए लड़ने वालों के भी बड़े संघर्ष हैं। नर्मदा के क्षेत्र में ''कोई नहीं हटेगा और बाँध नहीं बनेगा'' के नारों से लेकर पिछले बीस वर्षों में कोयलकारों, प्लाचीमाड़ा, काशीपुर, कलिंगनगर, पॉस्को विरोधी संघर्ष, रायगढ़, नियमगिरि, सिंगूर, नन्दीग्राम, जैतापुर और न जाने कितनी ही जगहों पर ये संघर्ष जारी हैं। कहीं कामयाब हुए हैं, कहीं पीछे हटे हैं लेकिन संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं।

जमीन आज संघर्ष का देशव्यापी मुद्दा है। कहीं वह उचित मुआवजे की माँग को लेकर लड़ा जा रहा है और अनेक जगहों पर वह जमीन से अपनी बेदखली के खिलाफ लड़ा जा रहा है। और जमीन के साथ खेती अभिन्न तौर पर जुड़ी हुई है। बेशक पानी, बीज, खाद, जमीन की उर्वरता, पैदावार, फसलों के भाव आदि भी खेती में बहुत महत्त्व रखते हैं लेकिन खेती की बुनियाद को जमीन से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

खेती में जो लोग शामिल हैं, उनमें सीमान्त किसानों यानी ढाई एकड़ से कम की खेती की जमीन जोतने वाले किसानों की हालत देश में क्या है और पिछले वर्षों में जो तकनीकी बदलाव आये हैं या जो बाजार के तौर-तरीकों में बदलाव आया है, उनका असर सीमान्त किसानों पर क्या पड़ा है, इन सवालों को लेकर एस. पी. शुक्ला और डॉ. जया मेहता के निर्देशन में जोशी-अधिकारी सामाजिक अध्ययन संस्थान ने 2009 से देश के आठ राज्यों में एक सर्वेक्षण किया और जनवरी 2011 में अपनी रिपार्ट जारी की। इस अध्ययन के आधार पर एक पुस्तिका ''सवाल है उनकी जिन्दगी का जो खेतों में मेहनत करते हैं'' शीर्षक से डॉ. जया मेहता, रोशन नायर और मैंने लिखी थी। यहाँ उसके कुछ प्रासंगिक हिस्से प्रस्तुत हैं।

कम होती खेती की जमीन

पिम्पड़विहिर गाँव महाराष्ट्र में अमरावती-नागपुर हाईवे पर बसा है। इस गाँव में करीब 250 परिवार रहते हैं। किसी भी तरह की सिंचाई की सुविधा के अभाव में कपास पैदा करने वाले इन किसानों के लिए खेती कभी भी आसान मामला नहीं रहा। लेकिन पिछले दशक में बढ़ती लागत, फसलों के बार-बार खराब होने और डँवाडोल कीमतों की वजह से कपास की खेती उनके लिए निश्चित घाटे का सौदा साबित हुई है। अधिकतर कपास के किसान या तो कपास छोड़ सोयाबीन उगाने लगे हैं या फिर उन्होंने खेती को पूरे तौर पर ही छोड़ने की तैयारी कर ली है। महाराष्ट्र सरकार ने यह इलाका 1990 के दशक में महाराष्ट्र औद्योगिक विकास निगम (एमआईडीसी) को सौंप दिया था। पिछले 10 वर्षों में विभिन्न कम्पनियों ने इस क्षेत्र में अपनी इकाइयाँ लगानी शुरू की हैं और जमीन की कीमतें अचानक तेजी से बढ़ रही हैं। खेती में घाटा उठा रहे किसान इस अवसर से खुश हैं और अपनी जमीन को अच्छी कीमतों पर बेचने के लिए तत्पर हैं। जमीन की खरीद-फरोख्त के बाजार में जो उछाल आया है वह केवल शहरी भारत तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि ग्रामीण भारत में भी उसकी सक्रियता बढ़ी है। पिम्पड़विहिर की कहानी भारत के अनेक गाँवों में दोहरायी जा रही है।

कहीं से सड़क निकल रही है, कहीं से नहर, कहीं बाँध बन रहा है तो कहीं जमीन में से खनिज निकाले जा रहे हैं। कहीं कारखाने लगने हैं तो कहीं कॉलोनियाँ कट रही हैं। ऐसी अनेक वजहों से देश में खेती की जमीन में नाटकीय रूप से कमी आयी है। सन् 1992-93 से 2002-03 के दौरान देश की कुल खेती की जमीन 12.5 करोड़ हेक्टेयर से घटकर 10.7 करोड़ हेक्टेयर रह गयी है। महज 10 वर्षों की अवधि में देश में 1.8 करोड़ हेक्टेयर जमीन खेती से निकलकर दीगर उपयोगों में चली गयी है। देश के सभी राज्यों में खेती की जमीन कम हुई और कोई भी इसका अपवाद नहीं है। जहाँ एक तरफ जमीन घट रही है वहीं दूसरी तरफ इसी अवधि में खेतों की संख्या 9.3 करोड़ से बढ़कर 10.1 करोड़ हो चुकी है। इसका मतलब यह हुआ कि सन् 1992-93 में एक खेत का औसत आकार 1.34 हेक्टेयर था, जो पहले ही अपर्याप्त था, वह सन् 2002-03 में घटकर 1.06 हेक्टेयर रह गया। (स्रोतः नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन-एनएसएसओ, रिपोर्ट 492, 2002-03)

देश भर में विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र (सेज) के भीतर जो खेती की जमीन ली जा रही है उनका किसानों द्वारा देश भर में तीव्र विरोध हो रहा है। एसईजेड के सभी पहलुओं को देखते हुए यह विरोध बिल्कुल जायज और जरूरी है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक अगर सारी एसईजेड परियोजनाओं को जमीन आवंटित हो गयी तो भी यह कुल 2.1 लाख हेक्टेयर होगी। यह जमीन उस 1.8 करोड़ हेक्टेयर की तुलना में 90 गुना कम है जो बगैर एसईजेड के ही किसानों के पाँवों तले से हटायी जा चुकी है।

ज़मीन का ग़ैर-बराबर बँटवारा

ग्रामीण परिवारों के बीच में खेती की जमीन का बँटवारा पहले से ही बहुत असमान रहा है। हालाँकि आजादी के बाद सभी राज्यों ने जमीन की हदबन्दी लागू की है लेकिन हदबन्दी से अधिक की जमीन राजसात् कर उसे भूमिहीनों के बीच प्रभावी तौर पर बाँटने के मामले में वे असफल रहे हैं। अपवाद के तौर पर पश्चिम बंगाल, केरल और जम्मू-कश्मीर का ही नाम लिया जा सकता

है। देश में भूमि सुधार कार्यक्रम के तहत कुल वितरित की गयी जमीन का बहुत बड़ा भाग सिर्फ पश्चिम बंगाल और केरल के खाते में जाता है।

वर्ष 2002-03 के एनएसएसओ के आँकड़ों के मुताबिक ग्रामीण भारत के 31 फीसदी परिवारों के पास घर की जमीन को छोड़कर खेती की कोई जमीन नहीं है और 10 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास तो रहने के लिए घर की जमीन भी नहीं है। जिनके पास खेती की जमीन है भी, उनमें से 67 फीसदी परिवार सीमान्त किसान हैं जिनके पास 2.5 एकड़ से कम कृषि भूमि है। छोटे किसान, जिनके पास 2.5 एकड़ से 5 एकड़ तक जमीन है, 18 प्रतिशत हैं। और 10 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास अर्द्धमध्यम आकार की, 5 से 10 एकड़ के बीच खेती की जमीन है। देश के कुल ग्रामीण परिवारों में केवल 5 प्रतिशत परिवारों के पास 10 एकड़ से ज्यादा की खेती की जमीन है। और ये 5 प्रतिशत परिवार इस देश की 34 प्रतिशत खेती की जमीन के मालिक हैं।

एनएसएसओ के ये आँकड़े उन जमीनों के बारे में हैं जिन पर परिवारों का हक है। इन आँकड़ों में वे धार्मिक व अन्य संस्थान शामिल नहीं हैं जिनके कब्जे में देश की हजारों एकड़ जमीन है। इन आँकड़ों में बड़े जमीन्दारों की वह तस्वीर भी साफ तौर पर नहीं उभरती जिन्होंने सरकारी कानूनों के सूराखों का इस्तेमाल करते हुए कागजों पर अपने नाते-रिश्तेदारों के नाम पर जमीनें लिखवा लीं और दरअसल खुद बेहिसाब जमीन के मालिक होने का आज भी सुख भोग रहे हैं। उदाहरण के तौर पर एनएसएसओ के आँकड़ों में बिहार की शक्ल बिल्कुल साफ नहीं होती, जहाँ आज भी जातीय और सामन्ती संरचनाएँ गहराई से मौजूद हैं। इन आँकड़ों के मुताबिक बिहार में 50 एकड़ से अधिक की जमीन का मालिक कोई किसान नहीं है। जबकि बिहार सरकार द्वारा 2006 में डी. बंद्योपाध्याय की अध्यक्षता में गठित भूमि सुधार आयोग के नतीजे इसके बिल्कुल उलट हैं। आयोग ने 14 जिलों में 15 जनसुनवाइयाँ कीं और ऐसे बड़े जमीन्दारों की एक सूची बनायी जो कागजों की हेराफेरी करके हजारों एकड़ जमीन के मालिक बने हुए हैं और पर्दे के पीछे अभी भी जमीन्दारी व्यवस्था को चला रहे हैं। गोपालगंज में हथुआ राज, बेतिया में बेतिया राज और शिकारपुर एस्टेट, कटिहार में कुरसेला राज जैसे कुछ नाम उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं।

बड़े जमीन्दारों और निहित स्वार्थों के प्रभाव के चलते भूमि सुधार का कार्यक्रम देश में बहुत कम अंशों में ही अमल में आ पाया था। नव-उदारीकरण के दौर में वह कार्यक्रम प्राथमिकताओं की सूची में हाशिये पर डाल दिया गया। दरअसल, अब तो कई राज्यों में राज्य सरकारों ने भूमि सुधार कार्यक्रम के मायने ही उलट दिये हैं और वह उसे उल्टी दिशा में खींच रही है। अब धार्मिक संस्थानों और ट्रस्टों के साथ-साथ बड़े व्यापारिक घरानों को जंगल और तथाकथित बंजर जमीन के बड़े क्षेत्रफल पर सीधे नियन्त्रण का अधिकार दिया जा रहा है। फसलों की पैदावार के मामले में कॉर्पोरेट क्षेत्र सीधे-सीधे नहीं लेकिन परोक्ष तौर पर ठेका या संविदा खेती के जरिये अपना नियन्त्रण बढ़ाता जा रहा है।

धर्म, जाति और ज़मीन का बँटवारा

ऐसा लगता है कि तमाम आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता के शोर के बावजूद जमीन की मालिकी और उसके बँटवारे को तय करने में जाति और धर्म अभी भी अहम भूमिका निभाते हैं। मुसलमानों और अनुसूचित जाति के परिवारों के पास खेती की जमीन की मिल्कियत आमतौर पर वहीं देखने को मिलती है जहाँ पूरा गाँव ही उनकी बिरादरी का हो। जिन गाँवों में अन्य पिछड़ा वर्ग या सामान्य वर्ग के हिन्दुओं का वर्चस्व हो वहाँ अनुसूचित जाति या मुस्लिमों के पास जमीन की मालिकी बमुश्किल ही पायी गयी है। हमने जिन राज्यों का अध्ययन किया है उनमें अनुसूचित जाति की भूमिहीनता पंजाब, बिहार और तमिलनाडु में सबसे ज्यादा सामने आयी है। महाराष्ट्र और दक्षिण के अनेक राज्यों में बौद्ध धर्म और पंजाब में सिख धर्म ने दलितों-उत्पीड़ितों को न्याय और बराबरी का भरोसा दिलाया था, जिससे प्रेरित होकर करोड़ों लोग इन महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का हिस्सा भी बने। हालाँकि सिर्फ धर्म भर बदल लेने से दलित तबके में जमीन की मालिकी पर बहुत कम असर पड़ा है।

हमने जालन्धर जिले के 3 गाँवों में 310 परिवारों की जाति और भूमि स्वामित्व की जानकारियाँ हासिल की। इनमें से 170 परिवारों ने अपने-आप को जट सिख बताया जिनमें से सिर्फ 11 के पास खेती की जमीन नहीं थी। 127 ने अपने-आप को मजहबी सिख बताया जो सिखों के भीतर अनुसूचित जाति के हैं। इन 127 में से 125 के पास खेती की कोई जमीन नहीं है। इन सभी मजहबी सिखों के पुरखों ने हिन्दू धर्म के भीतर मौजूद सामाजिक असमानता से छुटकारा पाने के लिए सिख धर्म को अपनाया होगा और अनेक दशकों तक बराबरी की अपनी चाहत को पूरा न होते देख अब वे सिख धर्म के भीतर ही दूसरे पंथ बना रहे हैं।

इसी तरह अमरावती जिले में हमने 542 परिवारों की सूची बनायी, इनमें से 123 ने अपना धर्म बौद्ध बताया और जाति अनुसूचित। इन 123 में से 72 के पास खेती की कोई जमीन नहीं थी और 23 के पास 2.5 एकड़ से कम जमीन थी।

बँटाईदारी (लीजिंग)

भारत में अँग्रेजों के आने के पहले से ही जमीन सामन्ती आधारों पर बहुत असमान रूप से वितरित थी। भूमि स्वामित्व के इन सामन्ती सम्बन्धों की विरासत को औपनिवेशिक सरकार ने और बिगाड़ा। अँग्रेजी राज के दौरान पहले से ही काफी रही भूमिहीनता में और भी बढ़ोत्तरी हुई। गरीब ग्रामीण परिवारों के पास न जमीन थी और न ही कोई और रोजगार। ऐसे में उनके पास इसके सिवाय और कोई चारा नहीं था कि वे बड़े किसानों और जमीन्दारों से जमीन बँटाई पर लेकर उसे जोतें और किसी तरह अपने आप को जिन्दा रखें। जमीन की बँटाई की शर्तें, जाहिर है कि जमींन्दारों के लिए फायदेमन्द और किसानों के लिए भीषण शोषणकारी थीं। बँटाई पर खेती करने वालों के लिए किसी तरह की सुरक्षा नहीं थी। आजादी के बाद हिन्दुस्तान में इसीलिए बँटाई के मुद्दे को भूमि सुधार कार्यक्रम का एक अहम हिस्सा माना गया। लेकिन चूँकि जमीन राज्य सरकार

के अधिकारों के अन्तर्गत आने वाली सम्पत्ति है इसलिए अलग-अलग राज्यों ने इस मामले पर अलग-अलग भूमिका अख्तियार की। कुछ राज्यों ने बँटाईदारी को पूरे तौर पर गैरकानूनी घोषित किया और कुछ ने बँटाईदारों की सुरक्षा के लिए कुछ नियम व कानून बनाये। कानूनी तौर पर जो भी किया गया लेकिन बँटाईदारों को कोई खास सुरक्षा हासिल नहीं हुई। बँटाईदारी पहले की तरह ही चलती रही, क़ानूनी तौर से या गैरकानूनी तौर पर। पश्चिम बंगाल में जरूर ऑपरेशन बरगा के जरिये बँटाईदारों को सुरक्षा देने और बँटाई की शर्तों को न्यायसम्मत बनाने में कुछ हद तक कामयाबी हासिल की गयी।

वक्त गुजरने के साथ-साथ बँटाई पर जमीन लेकर खेती किये जाने की प्रवृत्ति में देश में कमी दर्ज की गयी है। एनएसएसओ के सर्वेक्षण बताते हैं कि सन् 1970-71 में बँटाईदारों द्वारा जोते जाने वाले खेतों की संख्या कुल जोतों का 24 प्रतिशत थी, जो सन् 2002-03 में कम होकर 10 प्रतिशत रह गयी। क्षेत्रफल के हिसाब से देखें तो कुल जोती जाने वाली जमीन का 10 प्रतिशत भाग 1970-71 में बँटाईदारी के तहत जोता जाता था, जो 2002-03 में कम होकर 6.5 प्रतिशत रह गया। प्रतिशतों में ये आँकड़े छोटे हैं लेकिन असल मात्रा देखें तो सन् 2002-03 में बँटाई के अन्तर्गत जोती जाने वाली जमीन 70 लाख हेक्टेयर और एनएसएसओ के मुताबिक बँटाई पर ली जाने वाली जोतों की संख्या 1 करोड़ है। ज्यादातर बँटाई पर खेती करने वाले किसान या तो भूमिहीन होते हैं या सीमान्त किसान, जो बड़े भूपतियों से जमीन बँटाई पर लेकर अपना जीवन-यापन करते हैं।

बिहार के मधुबनी जिले के मधेपुरा ब्लॉक में एक गाँव है - हसौली। यह 300 एकड़ में फैला गाँव है जहाँ 82 परिवार रहते हैं। सारे परिवार सदाय समुदाय के हैं, जो अनुसूचित जाति में आते हैं। इनमें से किसी के पास भी अपनी मालिकी की जमीन नहीं है। यहाँ तक कि जिस जमीन पर इनके घर खड़े हैं वह भी इनकी नहीं है। गाँव की पूरी जमीन किसी महन्त की सम्पत्ति है जो बहुत दूर हजारीबाग में कहीं रहते बताए जाते हैं। गाँव के अधिकतर परिवार खेत मजदूरी का काम करते हैं लेकिन 20 परिवार ऐसे हैं जिन्होंने बताया कि वे बँटाई पर लेकर खेती भी करते हैं। इनमें से कुछ ने बँटाई की जमीन मन्दिर (या महन्त) से ली बताई, बाकियों ने बताया कि वे पड़ोसी गाँव के किसानों से बँटाई पर लेकर खेती करते हैं। इसका अर्थ यह निकला कि पड़ोस के जिन गाँव वालों ने महन्त से इस गाँव की जमीन बँटाई पर ली होगी, उन्होंने हसौली के कुछ लोगों को वह जमीन आगे बँटाई पर दे दी। बँटाई पर ली जाने वाली जमीन भी बहुत कम, 1 से 2 एकड़ प्रति परिवार है। वे इस जमीन पर धान उगाते हैं और रबी के दौरान जमीन के एक छोटे हिस्से पर गेहूँ की फसल भी लेते हैं। धान और गेहूँ दोनों की ही पैदावार कम है। आधी फसल जमीन के मालिक को चली जाती है, बाकी फसल से घरेलू जरूरतें पूरी की जाती हैं। सर्वे किये गये 10 किसानों में से एक भी इतना नहीं उगा पाता कि वह उसे बाजार ले जा सके। अधिकतर गाँव वाले महन्त के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जानते। उनकी बँटाई की जमीन की कोई सुरक्षा नहीं है। बँटाई की शर्तें कभी सुधरेंगी या उन्हें उनकी मेहनत का बेहतर नतीजा हासिल होगा, ऐसी उम्मीदें भी ज्यादा नहीं हैं।

बँटाई के ऐसे भी मामले हैं जहाँ एक छोटा किसान दूसरे छोटे किसान से ही जमीन के छोटे टुकड़े बँटाई पर लेता है। ऐसे मामलों में बँटाई की शर्तें अपेक्षाकृत अधिक बराबरी पर आधारित होती हैं। अक्सर लागत और उपज को बँटाईदार और खेत मालिक के बीच आधा-आधा बाँट लिया जाता है। बँटाईदारों की एक और नयी किस्म पिछले कुछ वर्षों में उभरी है जहाँ छोटे किसानों के लिए खेती करना मुश्किल हो गया है और बड़े संसाधन सम्पन्न किसानों के लिए ज्यादा मुनाफे का सौदा। वहाँ बड़े किसान छोटे किसानों से जमीन बँटाई पर ले लेते हैं। एनएसएसओ के आँकड़ों में भी ऐसी उलट बँटाई या रिवर्स लीजिंग दर्ज हुई है, जिसके मुताबिक 14 प्रतिशत बड़े किसान देश में बँटाई पर जमीन लेकर खेती कर रहे हैं। ये उलट बँटाई खासतौर से उन जगहों पर देखने में आती है जहाँ खेती में पैदावार और मुनाफा आकर्षक हो। पंजाब में बड़े किसान एक निश्चित रकम के बदले छोटे किसानों की जमीन खेती के लिए बँटाई पर ले लेते हैं। मध्य प्रदेश के उज्जैन और सागर जिलों में हमें ऐसे छोटे किसान मिले जो अपनी जमीन गेहूँ की खेती के लिए उन किसानों को बँटाई पर दे देते हैं जिनके पास सिंचाई और खेती के अन्य साधन हैं। ऐसे मामलों में छोटे किसान अपनी जमीन, अपना श्रम और अन्य खर्चों का आधा हिस्सा वहन करते हैं, बड़ा किसान उन्हें पानी और बाकी लागत का आधा हिस्सा देता है। पैदावार दोनों में आधी-आधी बँट जाती है।

खेती के इस भीषण संकट का कोई भी हल सबसे पहले खेती की जमीन को खेती के अलावा अन्य इस्तेमाल में लिए जाने पर रोक लगाने की माँग करता है, साथ ही यह भी उतना ही जरूरी है कि खेती में लगे हुए मेहनतकश लोगों के बीच जमीन का न्यायसंगत बँटवारा हो।

जैसे ही सम्पत्ति और संसाधनों के बँटवारे का सवाल आता है तो एक वर्ग आधारित विभाजन अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है। और वर्ग संघर्ष के बिना वंचितों को मिलने वाले हिस्से पर प्रभु वर्ग आसानी से अपना कब्जा जमा लेता है, यह इतिहास ने हमें सिखाया है।

चूँकि जमीन राज्य सरकार के अधिकारों के अन्तर्गत आने वाली सम्पत्ति है इसलिए अलग-अलग राज्यों ने इस मामले पर अलग-अलग भूमिका अख्तियार की। कुछ राज्यों ने बँटाईदारी को पूरे तौर पर गैरकानूनी घोषित किया और कुछ ने बँटाईदारों की सुरक्षा के लिए कुछ नियम व कानून बनाये।

जोशी-अधिकारी सामाजिक अध्ययन संस्थान द्वारा देश के आठ राज्यों में सीमान्त किसानों पर केन्द्रित अध्ययन के आधार पर।

❑

संकट के दौर में किसानी

गुरबचन सिंह



खेती के बारे में जब तक यह धारणा बनी रहेगी कि इसे लाभप्रद था मुनाफे वाली बनानी है, गड़बड़ियाँ बढ़ती जाएँगी। जल, जमीन और जंगल प्रकृति है, इनसे हमें प्राकृतिक रिश्ता ही रखना होगा।

आज पंजाब की किसानी गम्भीर संकट का शिकार है। बल्कि समूचे देश की किसानी लगातार गम्भीर संकट से गुजर रही है। यदि और स्पष्ट रूप में कहना हो तो शायद कुछ अमीर मुल्कों को छोड़कर, लगभग सभी देशों की किसानी लगातार गम्भीर संकट की मार झेल रही है। यह सिर्फ अब ही नहीं, अपितु पिछले कई दशकों से संकट का शिकार है।

किसानी के इस गम्भीर संकट के ठोस बुनियादी कारण हैं। इन कारणों की तह तक पहुँचे बिना इनका हल नहीं ढूँढ़ा जा सकता। असल में जब से खेती को लाभप्रद (मुनाफाखोर) धन्धा बनाने की कोशिशें आरम्भ हुई हैं या खेतीबाड़ी के काम को मुनाफाखोर धारणाओं के पैमाने से नापना शुरू किया गया, तब से ही किसानी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और रुहानी संकट का शिकार होने लगी।

दुनिया भर में मनुष्य जाति के सम्पूर्ण इतिहास में खेती कभी भी लाभप्रद धन्धे के तौर पर नहीं की गयी। इसलिए दुनिया भर की किसानी धरती को अपनी माँ या मनुष्य जाति को कुदरती नेमतें देने वाली जननी के तौर पर पूजा करती रही है। ऐन आरम्भिक काल से ही जमीन और किसानी के बीच एक रुहानी सम्बन्ध चला आ रहा है। गुरमति की यह धारणा 'पवन गुरू पानी पिता माता धरत महत' इस रुहानी रिश्ते की जानकारी ही देती है। पंजाबी की एक बहुत प्रसिद्ध कहावत है: उत्तम खेती, मद्धम व्यापार, निखिद्ध चाकरी भीख दुआर। यह कहावत हजारों सालों की एकत्रित मानवीय सूझ का सार है। खेती इस देश का और विशेष तौर पर पंजाब का पवित्र और प्रमुख कार्य रहा है। यह भी ध्यान रहे कि अँग्रेजी उपनिवेशवाद से पूर्व जमीन बेची या खरीदी नहीं जाती थी।

अँग्रेजी उपनिवेशवाद ने सबसे पहले इस देश में किसानी पर भारी मालिया टैक्स लगाकर उसे सूदखोरों का गुलाम बनाने की राह तैयार की। इससे पूर्व मालिया की उगाही फसलों के एक हिस्से में होती थी। अँग्रेजों ने पहली बार किसानों से नकद के रूप में मालिया टैक्स की उगाही आरम्भ की। किसानों के पास जब टैक्स अदा करने के लिए नकद पैसे नहीं होते थे। वे सूदखोरों से कर्ज लेकर मालिया अदा करने लगे। इस तरह किसान सूदखोरों के शिकंजे में फँसते चले गये। अपनी खेतीबाड़ी की या घरेलू जरूरतों को पूरा करने के लिए किसान

लेखक पंजाबी के साहित्यकार हैं।
+911812402129

पुराने समय में ही कर्ज लेते आ रहे थे परन्तु कर्ज का जो रूप अब नजर आ रहा है, वह पहले कभी भी नहीं था।

एक अँग्रेज सर एम.एल. डारलिंग ने अपनी किताब 'पँजाब पीजिंट इन प्रॉसपैरिटी एण्ड डैट' (1925) में पँजाब की किसानी के कर्ज सम्बन्धी खोज की थी। यह किताब इस विद्वान की 10-15 सालों की मेहनत का परिणाम था। इस किताब में सर डारलिंग ने चेतावनी दी थी कि यदि किसानों के कर्ज की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो यह पँजाब की नींव हिला कर रख देगा, क्योंकि किसानों का कर्ज उनकी आमदनी से 5-6 गुना ज्यादा था और भारी ब्याज की दर से भुगतान बहुत मुश्किल था। भारत सरकार के 1930 के एक अनुमान के अनुसार किसानी का कुल कर्ज 8 अरब 75 करोड़ रुपये था। सन् 1951-52 में पहली बार ग्रामीण कर्ज सम्बन्धी विश्लेषण किया तो पता चला कि 52 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कर्ज अधीन थे और कृषि आधारित परिवारों का औसत कर्ज 283 रुपये से लेकर 1200 रुपये तक का था और कुल भारतीय ग्रामीण कर्ज 950 करोड़ रुपये था। आज के समय में कुल ग्रामीण भारतीय कर्ज 1,72,000 करोड़ रुपये है। जिसका सिर्फ बैंकों से ही पता चलता है, जबकि असल में आँकड़े इससे भी कहीं ज्यादा हैं।

अँग्रेजों ने ही इस देश में पहली बार लैंड एक्वेजीशन एक्ट लागू किया, जिस कानून के अधीन उन्हें किसानी की जमीन हथियाना आसान हो गया। अँग्रेजी उपनिवेशवादियों ने ही पहली बार खेती योग्य जमीन खरीदने और बेचने का धन्धा करवाया। अँग्रेजों के आने से पूर्व सारी की सारी जमीन कुदरत की मल्कीयत मानी जाती थी और राजशाही को कुदरत की तरफ जमीन के मालिक होने का मिला हुआ एक हक समझ कर सारी जमीन राजशाही के अधीन मानी गयी। जो किसान जितनी जमीन में हल चलाते थे, उसके हिसाब से उसकी फसल का हिस्सा उगाह कर जागीरदार, राजाओं को भेजते थे। इसी तरह अँग्रेजों ने लैंड फोरेस्ट एक्ट लागू किया, जिसके अधीन सारे जंगल पर सरकारी कब्जे की घोषणा कर दी और किसानों को जँगलों से घरों के चूल्हे जलाने के लिए लकड़ी तक काटने की मनाही कर दी गयी।

1947 में बेशक गोरे अँग्रेज चले गये थे परन्तु उनके वारिस काले मनुवादी अँग्रेजों ने देश की किसानी के लिए जारी नीतियों को वैसे ही जारी रखा है। आज भी बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेशनों द्वारा ओने-पोने मूल्य पर किसानों से छीनी जा रही जमीन इन्हीं नीतियों का परिणाम है। असल में मौजूदा राज्य व्यवस्था की नीतियों ने खेती-बाड़ी को औद्योयिक पूँजीपतियों और व्यापारियों की मुनाफाखोर साम्राज्यवादी पूँजीवाद के दौर में जब खेती-बाड़ी के काम को लाभप्रद बनाने व इसको रुपये पैसे की गिनती के साथ नापना शुरू किया तब साम्राज्यवादी पूँजी की जकड़ में आयी। कुदरत से अलग-थलग रुहानियत विहीन किसानों की जमीन से ज्यादा से ज्यादा पैसा निचोड़ने की हवस ने खेती रसायनिक खादों, कीट और नदीन नाशक दवाओं की भेंट चढ़ा दी, बिना यह महसूस किये कि इससे धरती, पानी, समूचा वातावरण जिसमें मनुष्य रहता है, वह भी साँस लेने योग्य नहीं रहा।

कृषि का यह ढंग अपने वातावरण को तबाह करता है। धरती को जहरीला बनाता है। पानी में रसायनिक जहर घोल देता है और मनुष्य के स्वास्थ्य का विनाश करता है। खेती-बाड़ी का यह ढंग अंधी-बहरी साम्राज्यवादी पूँजी की जकड़न के अधीन है। सारी की सारी पूँजी साम्राज्यवादी पूँजी की जरूरतों के अनुरूप नियोजित की जाती है। गरीब और मध्यवर्गीय लोगों से खींचे सरकारी टैक्सों को सब्सिडी के रूप में हड़प रहे खेती आधारित साम्राज्यवादी उद्योग, जो रसायनिक खादें, कीड़ेमार और नदीन नाशक दवाएँ बनाती है, इस ढंग की खेती-बाड़ी का आधार है। ग्रामीण कर्ज का प्रमुख कारण कृषि सेक्टर में हुई सरकारी तब्दीलियाँ हैं। एक सादी जीवन शैली साम्राज्यवादी पूँजी की जकड़बंदी में फँसा दी गयी है। कुछ धानिकों को खूब लाभ हुआ है, वहीं किसानी के एक बड़े भाग में कमाई साधनों अथवा आमदनी के पक्ष से ठहराव आया है। बीते कुछ समय में खेतीबाड़ी व्यापारीकरण और मशीनीकरन ने ग्रामीण जीवन को मण्डी शक्तियों के हवाले करके किसानी जीवन को मुश्किलों में डाल दिया है।

किसानी के निरन्तर चले आ रहे गम्भीर संकट का असल कारण साम्राज्यवादी पूँजी पर खेती-बाड़ी की निर्भरता है। जब से 'हरे इंकलाब' के नाम अधीन साम्राज्यवादी पूँजी का दखल खेती-बाड़ी में ज्यादा हुआ है। त्यों-त्यों किसानी लगातार गम्भीर संकट का शिकार हुई है। यह संकट मात्र आर्थिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं अपितु सामाजिक, राजनीतिक और रुहानी संकट का रूप धारण कर गया है। साम्राज्यवादी पूँजी सांस्कृतिक पतन, राजनीतिक नियन्त्रण और रुहानी कंगाली अपने साथ लेकर आती है।

मुनाफाखोर साम्राज्यवादी खेती-बाड़ी के ढंग ने मनुष्य जाति को सन्तुलित और जहर मुक्त पौष्टिक भोजन देने की जगह उसका पेट भरना खेती का मुख्य मंतव्य बना लिया। दुनिया के सबसे विकसित दो मुल्कों अमरीका और कनाडा की कृषि व्यवस्था के स्पष्ट उदाहरण हैं। अमरीकी सिनेट की तैयार की गयी एक रिर्पोट में कहा गया है

''हममें से बहुत से अमरीकी लोग कुछ खुराक के तत्त्वों की कमी की वजह से खतरनाक हद तक शिकार हैं, क्योंकि जिस मिट्टी से ये खुराक के तत्त्व मिलते हैं, उस मिट्टी में उन तत्त्वों की भारी कमी है, सच तो यह है कि करोड़ों एकड़ धरती में बीजे जाते फल सब्जियों और अनाज-धरती में मौजूद तत्त्वों की कमी के कारण-सभी जरूरी भोजन के तत्त्व उपलब्ध नहीं करवा सकते। इसलिए हम चाहे जितना भी खाते चले जायें परन्तु जिन्दगी भर हमें इन तत्त्वों से विहीन ही रहना पड़ता है।''

इसी रिपोर्ट में यह भी दर्ज है कि,

''पिछली आधी सदी में अमरीका ने इतनी अधिक मात्रा में भोजन पैदा किया है, जितना दुनिया भर में कहीं पैदा नहीं हुआ। परन्तु रोज-रोज खा-खाकर मोटे होने के बावजूद अमरीकी लोग जरूरी भोजन के तत्त्वों की खतरनाक हद तक कमी के शिकार हैं।''

साम्राज्यवादी कृषि की वास्तविकता यही है, जो भारी मात्रा में भोजन पैदा करने के बावजूद मनुष्य के लिए जरूरी भोजन तत्त्वों की पूर्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उसका फौरी मन्तव्य मनुष्य की कुदरती जरूरतें पूरी करना नहीं, अपितु मुनाफा कमाना है और यह मुनाफा चाहे 'ग्रीन हाउसों' में रसायनों के साथ तैयार की गयी सब्जियाँ खिला कर कमाया जाये या बहुराष्ट्रीय निगमों के जनेटिक बीजों द्वारा लोगों को जहर खिलाकर।

कनाडा में अपने अनुभव का यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मई 2003 में अपनी कनाडा यात्रा के दौरान हमने महसूस किया कि वहाँ के भोजन में परोसे जा रहे खीरे का स्वाद बहुत बेकार है, टमाटर बेस्वाद है और सलाद के तौर पर इस्तेमाल की जा रही शिमला मिर्च कई बार चबाते हुए गले में अटक जाती है। हमने इस बात को जमीन का फर्क समझ कर

नजर-अन्दाज कर दिया। जिनके घर हम ठहरे हुए थे, वह सज्जन 'ग्रीन हाउस' में काम करते थे। वह यात्रा के ऐन शुरू से ही हमें ग्रीन-हाउस देखने के लिए प्रेरित करते रहे परन्तु हुआ यह कि हम ग्रीन हाउस यात्रा के अन्त में ही देख पाये। 'ग्रीन-हाउस' की कार्यशैली को देख कर हम सुन्न रह गये। यह 'ग्रीन-हाउस' 11 एकड़ धरती में फैला हुआ था और हॉलेंड से आकर कनाडा बसे एक डच परिवार का था। इस ग्रीन हाउस की रचना कुछ इस तरह की थी कि दस एकड़ जमीन को 20-25 फुट ऊँचे शीशे के साथ चारों तरफ से ढका हुआ था और लगभग एक एकड़ जमीन में बहुत बड़े घेरे का एक ऊँचा पक्का टैंक बना हुआ था। शीशेनुमा 20-25 फुट इमारत के हाल में एक-एक फुट के फासले पर आठ फुट ऊँचे सरिये गाड़े हुए थे और इन सरियों पर बारीक-बारीक प्लास्टिक की नलियाँ टंगी थी, जिनका सम्बन्ध एक बड़ी नाली द्वारा उस बड़े टैंक के साथ था। लोहे के इन सरियों पर खीरे, टमाटर और शिमला मिर्च की बेलें लटकी हुई थीं। इन पौधों की जड़ सरिये के नीचे प्लास्टिक के लिफाफों में पड़े लकड़ी के बूरे में थी। कनाडा में लकड़ी का यह बारीक बूरा आम मिल जाता है। इस बूरे को उन प्लास्टिक की नालियों द्वारा उस बड़े टैंक में आते पानी से गीला रखा जाता है। हमें बताया गया कि पौधों के लिए जरूरी नाइट्रोजन, फासफोरस, पोटाशियम आदि जैसे तत्त्वों के रसायन उस टैंक में घोले जाते हैं। इस शीशनुमा महल का तापमान 25-26 डिग्री निश्चित करके इन पौधों को लगातार उस पानी से सींचा जाता है। इन सब्जियों को तोड़ने और इकट्ठा करने के लिए ग्रीन हाउस के बीच पक्की गलियाँ थी। हमें यह भी बताया गया कि एक-एक बेल पर 28-28 किलो खीरे, टमाटर और शिमला मिर्च लगती हैं। असल में यह ग्रीन हाउस नहीं अपितु खीरे, टमाटर और शिमला मिर्च पैदा करने वाली एक फैक्ट्री ही थी। देखने में खीरे, टमाचर और शिमला मिर्च ऐसे लगते थे जैसे प्लास्टिक फैक्टरी से अभी ही ताजे निकाल कर लाये हों। पीली, हरी और लाल शिमला मिर्च देखने में प्लास्टिक जैसी खूबसूरत ही लगती थीं। जब इसकी चर्चा हमने वहाँ रह रहे चार समझदार सज्जनों से की तो उन्हें कुछ भी अजीब नहीं लगा अपितु वे इस बात पर खुश थे कि उन्हें बासी सब्जियों की जगह ताजा सब्जियाँ मिल रही हैं। अब इस बात का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है कि रसायनों द्वारा बिना धरती में बीज बोये और बिना उनकी कुदरती पैदावार के तैयार हुई ये सब्जियाँ शरीर को कितने जरूरी विटामिन या शक्ति दे सकती हैं?

यहाँ एक बात और स्पष्ट की जानी चाहिए कि कर्ज के नीचे पिस रही किसानी के साम्राज्यवादी दौर के कर्ज और उससे पहले के कर्ज में बुनियादी अन्तर है। किसानी कर्ज के नीचे पहले भी पिसती रही है और बुरी तरह पिसती रही है परन्तु साम्राज्यवादी दौर के कर्ज ने जिस तरह किसानी को अपनी जकड़ में लिया है। यह बेमिसाल है।

आज पँजाब का किसान इसी साम्राज्यवादी कर्ज में दबा हुआ है। पँजाब का कुल कर्ज 72,000 करोड़ रुपये का आँकड़ा पार कर चुका है। इसके अतिरिक्त इतने कर्ज के बराबर पँजाब सरकार ने अलग-अलग कॉरपोरेशनों को गारण्टी दी हुई है। सन् 1998 में पँजाब सरकार के सहकारी विभाग की ओर से डा. एच.एस. शेरगिल की रहनुमाई के अधीन करवाये गये एक सर्वेक्षण के मुताबिक किसानों पर 5700 करोड़ रुपये का कर्ज था। इस कर्ज में 46.32 प्रतिशत आढ़तियों का, 7.12 प्रतिशत वस्तुएँ गिरवी रखकर, 27 प्रतिशत सरकारी संस्थाओं से और 20 प्रतिशत व्यापारिक बैंकों का था। पँजाब फार्मर कमिश्नर (2007) की रिपोर्ट के मुताबिक संस्थात्मक किसानी कर्ज जो 1990-91 में 1638 करोड़ रुपये था, वह 2004-05 में 16,374 करोड़ रुपये हो गया और 2009-10 में यह आँकड़ा 35,000 करोड़ रुपये हो गया। प्रति हैक्टेयर 1990-91 के 3983 रुपये के मुकाबले 2004-05 में यह कर्ज 39,986 रुपये हो गया। एक शोधार्थी द्वारा संगरूर जिले में किये गये सर्वेक्षण के समय 31 प्रतिशत किसानों ने एक लाख रुपये का कर्ज वापिस करना था, 14 प्रतिशत ने दो लाख तक, 22 प्रतिशत ने तीन लाख से ज्यादा कर्ज वापिस करना था, जबकि सिर्फ 13 प्रतिशत किसान कर्ज से मुक्त थे।

पँजाब में पारिवारिक विभाजन होने से जमीने का आकार भी छोटा होता जा रहा है। पँजाब में लगभग 10 लाख खेती जोतें हैं, जिनमें 13.5 प्रतिशत एक हैक्टेयर से कम हैं, 19.05 प्रतिशत एक से दो हैक्टेयर वाले, 60 प्रतिशत 2-10 हैक्टेयर और सिर्फ 7 प्रतिशत 10 एकड़ से ज्यादा हैं। छोटे खेत में खेती करना लाभप्रद नहीं होता। मशीनी इस्तेमाल भी सम्भव नहीं फसल का मण्डीकरण करना भी कठिन है।

समय के साथ-साथ खेती में इस्तेमाल की जाने वाली चीजें महँगी हो रही हैं। खेती से आमदनी कम हो रही है। पिछले दो दशक में महँगाई बढ़कर चार गुना हो गयी है। इससे कुल उत्पादन बढ़ने की जगह कम हुआ है।

गेहूँ-धान के फसली चक्र से जमीन में बड़े खुराकी तत्त्वों के साथ-साथ खुराकी तत्त्वों में भी कमी आ गयी है। खेतों की मिट्टी कमजोर हो रही है। नाइट्रोजन, जिंक, फासफोरस, लोहा, पोटाशियम, कॉपर और सलफर आदि तत्त्व धरती से खींचे जा रहे हैं, क्योंकि फसल के रूप में धरती को निचोड़ लेने का काम अब 189 प्रतिशत हो गया है।

पँजाब में हर साल 1.80 करोड़ टन धान की पराली होती है। जिसका 81 प्रतिशत हिस्सा खेतों में जला दिया जाता है। जिससे हवा जहरीली होती है और धरती के सूक्ष्म जीव भी मारे जाते हैं और धरती की उपज क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा मानवीय स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। खास तौर पर साँस और आँखों की तकलीफ बढ़ जाती है।

गेहूँ-धान के फसली चक्र से दूसरी फसलों की काश्त बहुत कम हो गयी है। सावन की फसलों में मक्की, बाजरा, दालें आदि बहुत कम हो गयी हैं।

जरूरत इस बात की है कि खेती को लाभप्रद या मुनाफाखोर काम बनाने की सोच और इस सोच के तहत किये जा रहे अमल से पीछा छुड़ाया जाए। खेती-बाड़ी को मनुष्य जाति की बुनियादी कुदरती जरूरतों की पूर्ति के एक साधन के तौर पर विकसित किया जाए। कृषि को औद्योगिक पूँजीवादियों और व्यापारियों के चंगुल से आज़ाद करवाया जाएँ। गाँव या गाँवनुमा कस्बों के सारी, सुविधाएँ देने वाली राज्य व्यवस्था निर्मित की जाये। जनसँख्या के पलायन को गाँव से शहर की ओर धकेलने की जगह इसे शहर से गाँव की ओर मोड़ देने के लिए उत्साहित किया जाये। जरूरत है पुराने पेड़ पौधे और स्थानीय किसानों और पौधों को सम्भालने की, ताकि जौविक सन्तुलन बना रहे।

जमीन, पानी, जंगल, बीज और कृषि आधारित सामूहिक ज्ञान और साधन लोगों की साझीमिल्कियत हो। जहर मुक्त विभिन्न जरूरी पदार्थ बड़ी मात्रा में उपलब्ध करवाने के लिए खेतीबाड़ी को योजनाबद्ध और कुदरती ढंग से सहकारी रूप में किया जाये। ❑

भूमि सुधार का रास्ता

सुरेन्द्र कुमार



आजादी के बाद भूमि सुधार के नाम पर बहुत दावे किये गये। भूमि हदबन्दी, चकबन्दी, जमींदार उन्मूलन, भूदान जैसे आन्दोलनों से भी जमीनी स्तर पर सन्तोषजनक उपलब्धि हासिल नहीं हुई। संकट यह है कि केन्द्र सरकार की योजनाओं को राज्य सरकारें क्रियान्वित करने में असफल रही हैं।



लेखक भूमि संसाधन विभाग, ग्रामीण विकास मन्त्रालय में संयुक्त सचिव हैं।
suren61@yahoo.com
+919971191116

Hkkjr tl Ñf"k i/kku n'k e 'kk;n ;g fdlh dk le>u&le>ku dh t:jr u iM fd bl n'k e lkekftd] vkfFkd vkj lkLÑfrd thou e tehu dh D;k vgfe;r gA 'kk;n blh le> d rgr vktknh d 'k:vkrh lkyk e Hkfe l/kj dh ,d ygj&lh pyhA Hkfe gncUnh] pdcUnh] tehnkjh mUeyu Hknku bR;kfn 'kCn ykxk d tcku ij p< x;A tuekul dk yxu yxk fd bl {k=k e n'k u i;klr ixfr dh g vkj vc bl fn'kk e dN dju dh t:jr ugh gA yfdu dUnh; xkeh.k fodkl e=kh dh vè;{krk e cuh ,d lfefr u Hkfe l/kkj {k=k e ugh fd; tk ldµdk;k d ckj e ,d foLrr fjikV r;kj dh g tk bl ckr dk iek.k g fd Hkfe] Hkfe lèkkj vkj Hkfe lEcU/ gekj fnekxh iVy ij viuk egÙo [kk pd gA gky fiQygky d eghuk e n'k d fofHkUu Hkkxk e Hkfe vf/xg.k dk ydj turk e fufgr jk"k u ,d ckj fiQj l ge vkxkg fd;k g fd bl lEcUèk e ge cgr dN dju&lkpu dh t:jr vHkh Hkh gA

n'k d vf/dk'k Hkkx e yM lhfyx (Hkfe gncUnh) dkuu yk; x; rkfd Hkfe l lk/kuk d LokfeRo e 0;klr vlekurk dk lhfer fd;k tk ldA yfud u'kuy liy lo (NSS) dh ,d fjikV d erkfcd 80-40 ifr'kr fdlkuk d ikl ek=k 43-50 ifr'kr tehu g] tcfd 3-5 ifr'kr eè;e vkj cM fdlkuk d ikl 37-72 ifr'kr tehu gA vktknh d ckn l pyk, x; gncUnh dkuuk d rgr dy 27 yk[k gDV;j tehu dk ^ljlyl* ?kkf"kr fd;k x;k] ftle l 19 yk[k gDV;j tehu dk 55 yk[k Hkfeghu ifjokjk e forfjr fd;k x;kA yky cgknj 'kkL=kh jk"Vh; i'kklfud lLFkku e ,d vè;;u d erkfcd] ;fn gncUnh dkuuk dk Bhd l ykx fd;k tk;] rk bl n'k e 210 yk[k gDV;j tehu ^ljlyl* ?kkf"kr gk ldrh gA tkfgj g fd gncUnh d dkuu fliQ 10» gh iHkkoh <x l ykx fd; tk ldA ftu ykxk dk bl dk;Øe dk ykHk rFkkdfFkr <x l feyk] mue l cgr l ykHkkFkh vkcfVr tehu dk LokfeRo gkfly ugh dj ik;] vkj



tk ykx dj ik; mue l cgrk dh tehu [krh yk;d Fkh gh ughA ukdj'kkgh vfuPNk vkj v{kerk vkj jktuhfrd fufgr LokFk bl vlQyrk d ey dkj.k FkA

oreku lUnHk e bl ckr dh cgr t:jr g fd lHkh jkT; fiQj l lhfyx ,DV d rgr Hkfe lhfyx lhek fu/kfjr dj vkj ijh bekunkjh l bldk ikyu djA tkHk&Lokeh [kn [krh u djr gk] mud fy, lhfyx lhek vkj de gku pkfg,A bl ckr dh t:jr vkj Hkh blfy, g fd vFkO;oLFkk e ifjoru vkj lkekftd otgk l xko l cgrj ykx 'kgjk e vk x; gA pfd cVkbnkjh dk dkuu HkLokfe;k d LokfeRo dh j{kk dju e v{ke g] ,l Hk&Lokfe;k dh ,lh tehu ijrh jg tkrh gA xjhch mUeyu vkj [kkn; lj{kk dh nf"V l ;g loFkk vLohdk; gA

cgr l /kfed] 'kf{kd] vk|kfxd vkj pfjVcy lLFkvk d ikl vHkh Hkh vdr tehu gA gncUnh dkuu rk ;gk iHkkoh <x l ykx dju dh t:jr gA lykV'ku vkj eRL;ikyu tk vHkh rd bu dkuuk d nk;j l ckgj g] ij Hkh Hkfe&lhek dkuu ykx gku pkfg,A

dkuu dk iHkkoh <x l ykx dju d fy, ljlyl tehu ?kksf"kr ugh dju dk vkijkf/kd ekeyk djkj nuk pkfg,

mijkDr lkjh ckr rHkh lEHko g tc gekj ikl gekj Hkfe llk/uk dh lgh tkudkjh gkA ol rk Hkfe dk y[kk&tk[kk exy dkyhu jktk VkMjey d teku l py jgk g] ftl vxtk u ekeyh iQj cny dj iu% viuk fy;kA yfdu bl Hkfe fjdkM dk e[; i;ktu Fkk Hkfe jktLo LorU=k Hkkjr e Hkfe jktLo dk egÙo] vFkO;oLFkk e cnyko d lkFk ?kVrk x;kA vc rk cgr l jkT;k u Hkfe jktLo dh olyh ;k rk ekiQ dj fn;k g ;k vkfFkd :i l vlxr gku d dkj.k cUn dj fn;k gA bldk lh/k iHkko Hkfe lo vkj y[kk&tk[kk ij iMkA cgr txg rk lkB lkyk l fjdkM vkiQ jkbV ftl gkyr e Fkk mlh gkyr e vHkh Hkh gA dgu dk rkRi;; ;g g fd ljdkjh rU=k d ikl ;g tkudkjh i[rk ugh g fd tehu d iQyk lykV ij fdldk LokfeRo g vkj mldk {k=kiQy fdruk gA

vkBo n'kd d mÙkjk¼ e Hkkjr ljdkj u] dUn ifj;kftr ;ktuk,µ^dl;Vjkbt'ku vkiQ yM fjdkMl* vkj ^LVUFkfuxfuax vkiQ fjoU;w ,MfeuLV'ku ,.M viM'ku vkiQ yM fjdkMl*µpyk;hA ckn e 2008 e bu nkuk ;ktukvk dk ,dhÑr dj ^u'kuy yM fjdkMl ekMukbt'ku ,.M euteV ikxke pyk;h x;hA bl ;ktuk eµHkfe d lkj Lifl;y (Spatial) vkjVDl;vy (Textual) fjokMl dk dEI;VjhÑr dju] vk/fud rduhd tl byDVkfud VkVy LV'ku] mixgh; fp=k (Satellite imagery) Xykcy ikft'kfux flLVe d lgkj lo vkj iulo dju rFkk jktLo lo vkj jftLV'ku foHkkxk e dk;

dykik dk ,dhÑr djuµtl Økfrdkjh dnek dk iko/ku gA ;fn bl ikxke dk iHkkoh <x l ykx fd;k tk, rk xkeh.kk dk cgr gh iQk;nk gkxkA vHkh d rkjh[k e ;fn fdlh xkeh.k dk viu tehu d LokfeRo dk iek.k i=k pkfg, rk ml eghuk iVokjh vkj rglhynkj d nÝrjk d pDdj dkVu iMr gA yfdu bl ikxke d lgkj xkeh.k bl feuVk e ekeyh iQhl vnk dj iklr dj ldr gA ftu jkT;k u bl ikxke dk egÙkk nh g ogk ,lk gk Hkh jgk gA

Hkfe fjdkMl d vk/fudhdj.k dk lcl cMk iQk;nk rk ;g gkxk fd ljdkj d ikl ;g tkudkjh gkxh fd ved HkLokeh d ikl fdruh tehu gA D;k ;g HkLokeh yM lhfyx d nk;j e vkrk g\ bl ckr dh t:jr gh ugh iMxh fd Hkfe lhfyx dkuu dk fØ;kUo;u HkLokeh d vUreu ij fuHkj djxkA vHkh ljlyl Hkfe dh ?kk"k.kk HkLokeh d }kjk dh tkrh gA ;fn ,u-,y-vkj-,e-ih- ekey dk Bhd l ykx dj fy;k x;k rk dEI;Vj e pn cVu ncku l lkj Ljlyl Hkfe dh ifjx.kuk eefdu gA lhfyx dkuu dk veyh tkuk igpkuuk vklku gk tk,xkA

yfdu ;g cM nHkkX; dh ckr g fd jkT; ljdkj bl ikxke dk fØ;kUo;u dju e vlQy jgh g] vkt dh rkjh[k e dUn ljdkj dh 530 djkM #i; dh foÙkh; lgk;rk] tk bl ikxke d rgr jkT;k dk miyC/ djk; x; g] mue l 510 djkM #i; [kp ugh fd; tk ldA ;s #i; jkT;k d fofHkUu foHkkxk e iM fdlh HkxhjFk tl de;kxh dk bUrtkj dj jg gA

,lk ugh g fd flQ ljdkjh rU=k gh Hkfe l/kj d ennk d ifr mnklhu fn[krk gA lekt dk gj ,d rcdk bl ckr d fy, ftEenkj gµpkg og ehfM;k gk] Lo;loh lLFkk, gk ;k lekt d ic¼ oxA Hkfe l/kj xjhch mUeyu vkj lekftd& vkfFkd U;k; dk ,d egÙoi.k tfj;k gk ldrk gA bl ckr dk vkRelkr dju vkj bl iuthfor dju dk blls T;knk lefpr le; vkj ugh gk ldrkA

❑

बीटी कपास कम्पनियों के लिए 'सफेद सोना'

जसपाल सिद्धू/स्वतंत्र मिश्र



कपास की खेती के साथ मनुष्य का रिश्ता तब से है जब से इसने तन ढँकने के लिए कपड़े पहनने की शुरुआत की। लेकिन अब बीटी कपास के नाम पर जो खेती हो रही है उसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तो अकूल मुनाफ कमा रही हैं और किसान हर तरफ से मारे जा रहे हैं।



कृषि विशेषज्ञ जसपाल सिंह सिद्धू पेशे से पत्रकार हैं। पंजाबी में कहानियाँ भी लिखते हैं।
+919811641844



लेखक स्वतंत्र मिश्र पत्रकार और अनुवादक हैं। फिलहाल बिजनेस भास्कर से जुड़े हैं।
15.swatantra@gmail.com
+919873091977

दस साल पहले 2002 में बीटी (बेसिलस थुरिनजेनिसस) कपास को भारत के किसानों के हाथों में कई सारे फील्ड ट्रायल के बाद सौंप दिया गया। किसानों को इसे सौंपते हुए इसकी खूबियां गिनाई गयीं। कहा गया – इसकी खेती की लागत सामान्य कपास के मुकाबले कम पड़ेगी और इसमें कीटनाशकों का खर्च भी कम आएगा। लेकिन नतीजे के तौर पर आज इस कपास के पीछे कई हजार किसानों को आत्महत्या तक का रास्ता तय करना पड़ा है। इसकी साफ सी वजह है कि बीटी कपास की खेती पर लागत बहुत ज्यादा आ रही है और किसानों को बैंक और साहूकारों से रुपये उधार लेने पड़ते हैं। ब्याज और मूलधन का हिसाब लगाते-लगाते और अन्तत: उधार न चुका पाने की हालत में हतभागा किसान कोई उपाय न सूझता देख इसकी खेती के लिए उपयोग में आने वाले कीटनाशकों को ही अपनी मुक्ति का जरिया बना बैठता है। एक अंग्रेजी पत्रिका 'फ्रंटलाइन' में प्रकाशित एक आँकड़े के अनुसार, वर्ष 2007 में जहाँ बीटी कपास का उत्पादन 560 किलो प्रति हेक्टेयर (लिंट) होता था, वहीं 2009 में यह घटकर मात्र 512 लिंट रह गया। वर्ष 2002 में बीटी कपास के उत्पादन में देशभर में कीटनाशकों पर 597 करोड़ रुपये का खर्च हुआ था वहीं 2009 में यह बढ़कर 791 करोड़ रुपये सलाना हो गया। मतलब यह हुआ कि किसानों के लिए बीटी कॉटन को 'उजला सोना' बताया गया, हकीकत में यह काला पत्थर से भी गया गुजरा साबित हुआ।

बीटी कपास है क्या?

दरअसल, बीटी कपास को मिट्टी में पाए जाने वाले बेक्टीरिया बेसिलस थुरिनजेनिसस से जीन निकालकर तैयार किया जाता है। इस जीन को Cry 1AC का नाम दिया गया। माना जाता है कि इस बीज को कीड़े नुकसान नहीं पहुँचा सकते हैं। लेकिन कुछ सालों के दौरान ही इस जीन से तैयार फसल को कीड़े नुकसान पहुँचाने में सक्षम हो गये। इसी जीन से बीटी ब्रिंजल या बैंगन की किस्म भी तैयार की गयी। हालाँकि बहुत कड़ा विरोध होने के कारण सरकार ने इसकी खेती को इजाजत नहीं दी

है। दीगर बात यह है कि केरल, मध्य प्रदेश और बिहार राज्यों में बीटी कॉटन को फील्ड ट्रायल्स की इजाजत नहीं दी गयी थी।

भारत में जेनेटिक फसल के नाम पर बीटी कपास की ही खेती होती है। बीटी कपास की खेती भारत के कुल फसलों की खेती के पाँच फीसदी रकबे में होती है लेकिन कुल इस्तेमाल में आने वाले कीटनाशकों का 55 फीसदी हिस्सा इसकी खेती में ही खप जाता है। इसकी खेती में बहुत महँगे रसायनों का इस्तेमाल हो रहा है, जिससे इसकी लागत आश्चर्यजनक रूप से कई गुना बढ़ जाती है। बीटी कपास की खेती पर लगभग दो-ढाई करोड़ किसान परिवार निर्भर करता है और इनमें से ज्यादातर किसान ऐसे हैं, जिनके पास दो हेक्टेयर से भी छोटी जोत है। बीटी कपास की एक पैकेट लगभग 450 ग्राम की होती है। बीटी कपास-1 की कीमत प्रति पैकेट 750-825 रुपये और बीटी कपास-2 की कीमत प्रति पैकेट 925-1,050 रुपये की मिल जाती है। एक एकड़ जमीन के लिए कम-से-कम तीन पैकेट बीज की जरूरत होती है। लेकिन हर साल अखबारों में इसकी काला बाजारी की रिपोर्ट आती है। काला बाजार में यह 1700 से लेकर 2,500 रुपये प्रति पैकेट धड़ल्ले से बिकता है। बीटी-1 और बीटी-2 दोनों ही किस्मों का व्यापार अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी मौंसेटो और भारत में उसकी साझेदारी कम्पनी माहिकों मिलकर करती हैं इसलिए हमारे यहाँ इसके तमाम पक्षों को सामने लाने वाले कई संगठनों की बात सरकार आया-गया कर देती है। भारत सरकार किस तरह अमरीका के दबाव में करती है, इसका बहुत अच्छा नजीर तब देखने को मिला जब मौंसेंटो ने खुद बीटी कपास-1 (बोलगार्ड 1) में पिंक बॉलवार्म की प्रतिरोधी क्षमता के विकसित होने की बात स्वीकारी और हमारे तत्कालीन कृषि मंत्री से लेकर स्वास्थ्य मंत्री तक ने ऐसा नहीं होने का दावा किया। कम्पनी ने अपना पासा एक बार दोबारा फेंका और कहा कि हम बीटी कपास-1 की कमी को दूर कर चुके हैं और उसकी जगह बीटी कपास-2 (बोलगार्ड 2) को विकसित कर चुके हैं। किसान उसे इस्तेमाल में लाएं। हमारे देश के हुक्मरानों ने उसे भी इजाजत दे दी। हमारे नेताओं ने कम्पनी के आगे घुटने टेक दिये और कहा कि कीट लगने की वजह 'रिफ्यूजी' यानि भारत में तैयार किये गये बीजों के उपयोग की वजह से हुआ है। कम्पनी भी ऐसा ही मानती है। नतीजा सबके सामने है मौंसेटो और उसकी भारतीय सहयोगी कम्पनी माहिको दिन-ब-दिन मोटी होती गयी और उसका इस्तेमाल करने वाले भारतीय किसान दुर्बल।

कैसे अस्तित्व में आया भारत में बीटी कपास?

कपास की खेती मानव सभ्यता के इतिहास में पाँच हजार साल से होता आया है। लेकिन इसमें पिछली सदी के अन्तिम दशक में तब नया मोड़ आया जब महाराष्ट्र स्थित माहिको हायब्रिड सीड कम्पनी ने अमरीकी कम्पनी मौंसेटो से साझेदारी की। वर्ष 1999 में अमरीकी कम्पनी मौंसेटे इण्टरप्राइजेज से माहिकों बीटी कॉटन को लेकर भारत आई। भारत में पहले से मौजूद कई सारी किस्मों से हायब्रिड करा कर यहाँ कई अलग-अलग नामों से बीटी कपास के बीज तैयार किये। इस खेल में माहिको की कुल साझेदारी मात्र 26 फीसदी की है। माहिको ने पहला फील्ड ट्रायल 1999 में किया। अगले वर्ष यानी 2000 में भी बड़े स्तर पर फील्ड ट्रायल किये गये और वर्ष 2001 में कम्पनी को एक साल का और मौका दिया गया। विज्ञान एवं तकनीकी मन्त्रालय द्वारा नेशनल बोटेनिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट को इस सिलसिले में शोध करने के लिए कोष भी मुहैया कराया। वर्ष 1994 से लेकर 1998 तक चले इस शोध का का कोई नतीजा नहीं निकल सका। इस पर सरकार के पाँच करोड़ रुपये खर्च हो हुए। मौंसेटों भी 1990 में इस तकनीक पर दो करोड़ रुपये खर्च कर चुकी थी। अन्ततः इसे तमाम असहमतियों के बावजूद जीईएसी (जेनेटिक इंजीनियरिंग अप्रूवल कमेटी) ने वर्ष 2002 में हरी झंडी दे दी। हालांकि जो वायदे और फायदे गिनाए गये, धीरे-धीरे उससे पर्दा उठने लगा और कम्पनियों की मुनाफा लूटने की नीयत का पता चल गया।

मौंसेटों और माहिको के पक्ष में सरकार

अमरीका की एक बहुराष्ट्रीय कृषि रसायनिक और बीजों का व्यापार करने वाली कम्पनी मौंसेटो और भारत में उसकी सहयोगी कम्पनी माहिको ने जब दुनियाभर में इसका व्यापार करना शुरू किया था तब उन्होंने इसकी जो विशेषताएँ गिनवाई थीं, वह अब झूठी और भ्रामक साबित हो चुकी हैं। वर्ष 2009 में मौसेंटों ने भारत में एक फील्ड सर्वे आयोजित करवाया तो पता चला कि गुजरात के अमरेली, भावनगर, जूनागढ़ और राजकोट जिले में बीटी कॉटन में लगने वाले कीड़े ने अपनी प्रतिरोधी क्षमता का विकास कर लिया और वे फसलों का नुकसान करने में सक्षम हो गये। मौसेंटो ने एक विज्ञप्ति जारी कर कहा कि इसमें कीटों की प्रतिरोधी क्षमता विकसित होना बहुत स्वाभाविक और उम्मीद के अनुरूप है। उन्होंने तर्क दिया कि चूंकि Cry 1AC प्रोटीन एक शुरुआती जिनेटिक फसल है और यह थोड़ी अविकसित किस्म है इसलिए ऐसा होना बहुत लाजिमी है। मौंसेटों ने किसानों को साथ में यह सलाह भी दी कि जरूरत के हिसाब से रसायनों का इस्तेमाल किया जाए और कटाई के बाद खेत में अवशेषों और जो गाँठे खुली हुई नहीं हैं, उनका उचित तरीके से प्रबन्धन किया जाए। कम्पनी ने बीटी कपास की दूसरी किस्म वर्ष 2006 में Cry 2Ab को दो प्रोटीन डालकर बोलगार्ड 2 को दुनिया के सामने रखा। कम्पनी का कहना है कि इस किस्म में कीट प्रतिरोधी क्षमता विकसित नहीं कर पाए हैं। कृषि विशेषज्ञ देविंदर शर्मा का कम्पनी के इस रवैये पर कहना है कि मौंसेटो ने अपने व्यापार का यही मॉडल दुनियाभर में अपनाया है। एक बार जब बोलगार्ड 1 असफल हो जाता है तब ये बोलगार्ड 2 को बाजार में बढ़ावा देते हैं और किसानों को कीटनाशकों का इस्तेमाल करने का बढ़ावा देते हैं। यह बहुत ही खतरनाक फंदा है और भारत के किसान कम्पनी के इस कुचक्र में बुरी तरह फंस चुके हैं। 'खेती विरासत' संगठन की कविता करुंगति का कहना है कि बीटी बैंगन को अपनाने से पहले यह ध्यान जरूरी होगा कि कम्पनी और सरकार अब भी वही तर्क दे रही है जो बोलगार्ड कॉटन के लिए दिया करती थीं। वर्ष 2009 में तत्कालीन केन्द्रीय विज्ञान मन्त्री पृथ्वीराज चव्हाण ने बार-बार यह कहा था कि बोलगार्ड कॉटन जीएम तकनीक पर आधारित फसल है और यह बहुत सफल रही है। इस कपास के समर्थन में बाद में

तत्कालीन केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री ए. रामदौस भी सुर मिलाते नजर आए।

कम्पनियां कूट रहीं है ताबड़तोड़ मुनाफा

कृषि अर्थशास्त्री के. जयराम ने वर्ष 2007 में पंजाब के मालवा क्षेत्रों के कई गाँवों का दौरा किया था और 'काउंटर करेंट्स' नाम की एक वेबसाइट पर 'बीटी कॉटन एंड इकोनॉमिक ड्रेन इन पंजाब' शीर्षक से एक लेख लिखा था। उन्होंने लिखा कि वर्ष 2007 में पंजाब के कुल 12,729 गाँवों में 10,249 उवर्रक वितरक एजेंसियां मौजूद थीं। रसायनिक और कीटनाशकों का व्यापार करने वाली 17 कम्पनियाँ यहाँ मुनाफा कूटने में लगी हुई थीं जिनमें नोवारटिस और इन्सेक्टीसाइड्स इंडिया लिमिटेड दो बड़ी कम्पनियाँ थीं। ये कम्पनियाँ एक सीजन में 10 हजार लीटर रसायन बेच लेती हैं। एक लीटर 450 रुपये का आता था। डीलर का मार्जिन एक लीटर में 115 रुपये बैठता था। के. जयराम के अनुसार, किसान एक सीजन में 17-34 बार रसायन का छिड़काव करते हैं। कपास के एक सीजन में रसायनों के छिड़काव पर प्रति एकड़ तीन-चार हजार रुपये का खर्च आता है।

अभी भारत के कुल आठ राज्यों - पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में इसकी खेती होती है। हर जगह अलग-अलग नाम से बीटी कॉटन और हायब्रिड बीजों को उपयोग में लाया जा रहा है। इस फसल को 162 तरह की कीटों की प्रजातियाँ नुकसान पहुँचा सकती हैं जिनमें 15 प्रमुख हैं। बीजों की बुवाई से लेकर इसकी तुड़ाई तक कभी भी कीट इसको नुकसान पहुँचा सकते हैं। इसकी वजह से 50-60 फीसदी उत्पादन कम हो सकता है। फसलों को नुकसान से बचाने के लिए भारत में कुल 28 अरब रुपये के कीटनाशकों का उपयोग यहाँ होता है। कपास की खेती को बचाने के लिए कुल 16 अरब रुपये के बराबर कीटनाशकों का उपयोग यहाँ किया जाता है। बीटी कॉटन को बॉलवार्म से बचाने के लिए सालाना 11 अरब रुपये का कीटनाशक यहाँ इस्तेमाल में लाया जा रहा है। कुल कपास की खेती में बीटी कॉटन 81 फीसदी रकबे पर बीटी कॉटन का उत्पादन हो रहा है।

रसायनिक उपयोग से मालवा क्षेत्र में कैंसर का प्रसार

बीटी कपास की खेती में इस्तेमाल होने वाले बेहिसाब रसायनिकों और कीटनाशकों की वजह से मनुष्य के जीवन पर बहुत सारे नकारात्मक प्रभाव साफ देखे जा सकते हैं। विशेषकर पंजाब में इसका जबरदस्त दुष्प्रभाव देखने को मिल रहा है। बीटी कपास की खेती पंजाब के मुख्य तौर पर चार जिलों बठिंडा, मुक्तसर, फरीदकोट और फिरोजपुर में होती है। यहाँ बीटी कपास की फसल को पिंक बॉलवार्म (पंजाब में मिली बग) से बचाने के लिए प्रोफेनॉस नाम के रसायनिक का धुआंधार इस्तेमाल हो रहा है, जिससे यहां का भूमिगत जल प्रदूष्ति हो रहा है। यहां के पानी में बड़ी मात्र में हेवी मेटल्स आर्सेनिक, यूरेनियम, लेड और फ्लोराइड पाये जा रहे हैं। इस तथ्य की पुष्टि पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, पंजाब, सेंटर फॉर साइंस एंड इनवॉयरनमेंट, नयी दिल्ली (सीएसई) सहित कई स्वास्थ्य और सामाजिक मुद्दों पर काम करने वाली संस्थाओं के सर्वेक्षण से उजागर हो चुकी है। सीएसई ने इन इलाकों के मनुष्यों के खून के नमूनों में आर्सेनिक और यूरेनियम पाया। यहाँ त्वचा कैंसर से लेकर गले का कैंसर, मानसिक विकलांगता, त्वचा सम्बन्धी रोग, छोटी उम्र में गंजापन सहित कई ऐसे रोग बड़े बहुत सामान्य हो चुके हैं। कैंसर इतना आम हो चुका है कि यहाँ बठिंडा से 'कैंसर एक्सप्रैस' नाम की एक ट्रेन बीकानेर के लिए हर रोज चलती है। बीकानेर के पास अबोहर में एक सरकारी कैंसर का अस्पताल है, जहाँ बहुत सस्ता इलाज किया जाता है। निश्चित तौर पर यह यहाँ के किसानों के लिए राहत की बात है। बठिंडा के पूहली गाँव के खेती-किसानी करने वाले बंत सिंह का कहना है कि यहाँ रसायनों का छिड़काव बहुत बड़े पैमाने पर खासकर बीटी कॉटन के लिए किया जाता था। अन्यथा पहले यहाँ एलएस सेलेक्शन (लाभ सिंह सेलेक्शन) बीज चलता था, जो बहुत सस्ता था। दरअसल, पाकिस्तान में पंजाब प्रान्त के एक किसान लाभ सिंह ने कपास के अच्छे बीज हायब्रिड तकनीक से विकसित किए थे। यह बीज सस्ता बहुत होता था और साथ ही इसमें ज्यादा रसायन और कीटनाशकों के छिड़काव की जरूरत नहीं होती थी।

सोना नहीं फसल उगाने की हो चाहत

दरअसल, भारत में 1990-91 में जब नयी आर्थिक उदारीकरण की नीतियों को लागू किया गया तब इसके चमकते हुए चेहरों के पीछे छिपे नुकीले और विषैले दांतों की हमने अनदेखी कर दी। भारत में नयी आर्थिक उदारीकरण की नीति के फलस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी दलाली करने वालों को इसमें अपना लाभ साफ नजर आ रहा था। मुनाफा कमाने के अवसर के तौर पर उन्हें हजारों रास्ते खुलते हुए नजर आ रहे थे। देश की तमाम वामपंथी पार्टियों और प्रगतिशील समाजवादी संगठनों के विरोध के बावजूद विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोश (आईएमएफ) के सामने हमारे हुक्मरान बेबस नजर आ रहे थे। उन्होंने जनता की नौकरी छोड़ विश्व बैंक, आईएमएफ और दुनिया के सबसे ताकतवर देश अमरीका की नौकरी स्वीकार ली। इन नीतियों ने हमारी पारम्परिक तौर-तरीकों को ध्वस्त कर हर चीज को मुनाफा कमाने की मशीन में तब्दील कर दिया। खेती-किसानी, शिक्षा, स्वास्थ्य सभी क्षेत्रों को उद्योगों में तब्दील करने की प्रक्रिया शुरू कर दी गयी। सरकार ने अपनी तमाम जिम्मेदारियों से हाथ खींचना शुरू कर दिया और नतीजा यह हुआ कि अब हर क्षेत्र में निजी कम्पनियों ने घुसपैठ बढ़ा ली है। खेतों की जमीन पर हाउसिंग प्रोजेक्ट्स, फैक्ट्रियाँ और कारखाने लगाए जा रहे हैं। खेतों की जमीन विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) के हवाले की जा रही है। खेतों में पारम्परिक अनाज की जगह व्यवसायिक फसलों को तवज्जो दी जाने लगी है। इस खेल में केन्द्र सरकार से लेकर राज्य सरकारें भी शामिल हैं। इसी साल पंजाब और हरियाणा सरकार ने बीटी कपास पर न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) धान से 20 फीसदी ज्यादा देने का निर्णय लिया। नतीजा यह हुआ कि हरियाणा में बीटी कपास के रकबे में 19 फीसदी और पंजाब में 16 फीसदी की बढ़ोतरी दर्ज की गयी। ऐसे में खेती-किसानी बचाने और खाद्य सुरक्षा के नारे गढ़ना बेमानी की बात ही ज्यादा प्रतीत होती है।

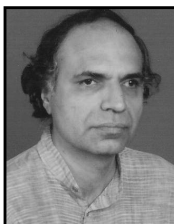
❑

खाद्य व्यवस्था पर जीएम फसलों की बढ़ती गिरफ्त

भारत डोगरा



सारी दुनिया के कृषि वैज्ञानिक इस बात पर एकमत हैं कि जीएम फसलों का जीव-जन्तु, पेड़-पौधे और समस्य मानव समुदाय पर विनाशकारी प्रभाव है। प्रकृति और पर्यावरण के भारी नुकशान की कीमत पर यह जीएम फसल क्यों?



लेखक वरिष्ठ पत्रकार और पर्यावरणविद हैं।
+911125255303

हाल के समय में भारत में जीएम फसलों के प्रयोगों व अनुसन्धान ने बहुत जोर पकड़ा है। नियमों की अवहेलना करते हुए कई जीएम फसलों के खुले खेतों में परिक्षण इस तरह हो रहे हैं जिससे आसपास की सामान्य फसल में जेनेटिक प्रदूषण का खतरा बहुत बढ़ जाता है। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार लगभग 14 फसलों पर खेतों में परिक्षण हो रहे हैं तो अन्य तरह के जीएम फसल सम्बन्धी अनुसन्धान व प्रयोग 74 फसलों पर हो रहे हैं। इस तरह हमारी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण खाद्य फसलें किसी न किसी स्तर पर जीएम फसलों के अनुसन्धान क्षेत्र में आ रही हैं।

फरवरी 2010 में जब बीटी बैंगन के व्यापारिक स्तर की रिलीज की स्वीकृति देने से पर्यावरण मन्त्री ने मना किया था व इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था तो उस समय उन्होंने एक विस्तृत नोट में बहुत वाजिब कारण बताए थे कि ऐसी खाद्य जीएम फसल को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती है। पर पर्यावरण मन्त्रालय के इस निर्णय के बाद जीएम फसल के प्रसार से जुड़े स्वार्थों ने अपना प्रचार-प्रसार और तेज कर दिया।

उन्होंने जीएम फसलों सम्बन्धी निर्णय प्रक्रिया पर पर्यावरण मन्त्रालय की पकड़ को ही कमजोर करना शुरू किया। इसके अतिरिक्त ऐसे कानून बनवाने का प्रयास किया जिससे जीएम फसल के विरुद्ध, आवाज उठाने वालों के विरुद्ध, कड़ी कार्रवाई की सम्भावना बढ़ जाए। उन्होंने सरकारी तन्त्र में अपनी घुसपैठ मजबूत की व अनेक राज्य सरकारों, कृषि विश्वविद्यालयों से ऐसे समझौते किए जिससे बाद में जीएम फसलों की अनुमति मिलने पर बहुत तेजी से उन्हें प्रसारित करने की पृष्ठभूमि बन सके व सरकारी तन्त्र में जीएम फसलों के अनुकूल माहौल बनाया जा सके।

यदि यही प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ती रहीं तो वह दिन दूर नहीं जब भारत की अधिकांश खाद्य व्यवस्था जीएम फसलों की चपेट में आ जाएँगी। अतः जीएम फसलों के खतरों के प्रति सचेत होना बहुत जरूरी है।

जी.एम. फसलों के विरोध का एक मुख्य आधार यह रहा है कि ये फसलें स्वास्थ्य व पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित नहीं हैं तथा यह असर जेनेटिक प्रदूषण के माध्यम से अन्य सामान्य फसलों व पौधों में फैल सकता

है। इस विचार को इंडिपेंडेंट साईंस पैनल (स्वतन्त्र विज्ञान मंच) ने बहुत सारगर्भित ढंग से व्यक्त किया है। इस पैनल में एकत्र हुए विश्व के अनेक देशों के प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों व विशेषज्ञों ने जी.एम. फसलों पर एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज तैयार किया जिसके निष्कर्ष में उन्होंने कहा है - ''जी.एम. फसलों के बारे में जिन लाभों का वायदा किया गया था वे प्राप्त नहीं हुए हैं, व ये फसलें खेतों में बढ़ती समस्याएँ उपस्थित कर रहीं हैं। अब इस बारे में व्यापक सहमति है कि इन फसलों का प्रसार होने पर ट्रान्सजेनिक प्रदूषण से बचा नहीं जा सकता है। अत: जी.एम. फसलों व गैर जी.एम. फसलों का सह अस्तित्व नहीं हो सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि जी.एम. फसलों की सुरक्षा या सेफ्टी प्रमाणित नहीं हो सकी है। इसके विपरीत पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं जिनसे इन फसलों की सेफ्टी या सुरक्षा सम्बन्धी गम्भीर चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। यदि इनकी उपेक्षा की गयी तो स्वास्थ्य व पर्यावरण की क्षति होगी जिसकी पूर्त्ति नहीं हो सकती है, जिसे फिर ठीक नहीं किया जा सकता है। जी.एम. फसलों को अब दृढ़ता से रिजेक्ट कर देना चाहिए, अस्वीकृत कर देना चाहिए।''

जेनेटिक इंजीनियरिंग से प्राप्त की गयी फसलों का मनुष्यों व सभी जीवों के स्वास्थ्य पर बहुत प्रतिकूल असर पड़ सकता है। निष्ठावान वैज्ञानिकों के अथक प्रयासों से जी.एम. फसलों के गम्भीर खतरों को बताने वाले दर्जनों अध्ययन उपलब्ध हैं। जैफरी एम. स्मिथ की पुस्तक 'जेनेटिक रुलेट् (जुआ)' के 300 से अधिक पृष्ठों में ऐसे दर्जनों अध्ययनों का सार-संक्षेप या परिचय उपलब्ध है। इनमें चूहों पर हुए अनुसन्धानों में पेट, लिवर, आँतों जैसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण अंगों के बुरी तरह क्षतिग्रस्त होने की चर्चा है। जी एम फसल या उत्पाद खाने वाले पशु-पक्षियों के मरने या बीमार होने की चर्चा है व जेनेटिक उत्पादों से मनुष्यों में भी गम्भीर स्वास्थ्य समस्याओं का वर्णन है।

यूनियन आफ कन्सर्न्ड साईंटिस्ट्स नामक वैज्ञानिकों के संगठन ने कुछ समय पहले अमेरिका में कहा था कि जेनेटिक इँजीनियरिंग के उत्पादों पर फिलहाल रोक लगनी चाहिए क्योंकि यह असुरक्षित हैं। इनसे उपभोक्ताओं, किसानों व पर्यावरण को कई खतरे हैं।

जब भारत में बीटी बैंगन के सन्दर्भ में इस विवाद ने जोर पकड़ा तो विश्व के 17 विख्यात वैज्ञानिकों ने भारत के प्रधानमन्त्री को पत्र लिखकर इस बारे में नवीनतम जानकारी उपलब्ध करवायी। पत्र में कहा गया है कि जीएम प्रक्रिया से गुजरने वाले पौधे का जैव-रसायन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाता हैं जिससे उसमें नये विषैले या एलर्जी उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का प्रवेश हो सकता है व उसके पोषण गुण कम हो सकते हैं या बदल सकते हैं। उदाहरण के लिए मक्के की जीएम किस्म जीएम एमओएन 810 की तुलना गैर-जीएम मक्का से करें तो इस जीएम मक्का में 40 प्रोटीनों की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण हद तक बदल जाती है। जीव-जन्तुओं को जीएम खाद्य खिलाने पर आधारित अनेक अध्ययनों से जीएम खाद्य के गुर्दे (किडनी), यकृत (लिवर) पेट व निकट के अंगों (गट), रक्त कोशिका, रक्त जैव रसायन व प्रतिरोधक क्षमता (इम्यूनिटी सिस्टम) पर नकारात्मक स्वास्थ्य असर सामने आ चुके हैं।

यूनियन आफ कन्सर्न्ड साईंटिस्ट्स नामक वैज्ञानिकों के संगठन ने कुछ समय पहले अमेरिका में कहा था कि जेनेटिक इँजीनियरिंग के उत्पादों पर फिलहाल रोक लगनी चाहिए क्योंकि यह असुरक्षित हैं। इनसे उपभोक्ताओं, किसानों व पर्यावरण को कई खतरे हैं।

बीटी कपास या उसके अवशेष खाने के बाद या ऐसे खेत में चरने के बाद अनेक भेड़-बकरियों के मरने व अनेक पशुओं के बीमार होने के समाचार मिले हैं। डॉ. सागरी रामदास ने इस मामले पर विस्तृत अनुसन्धान किया है। उन्होंने बताया है कि ऐसे मामले विशेषकर आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, कर्नाटक व महाराष्ट्र में सामने आए हैं। भेड़ बकरी चराने वालों ने स्पष्ट बताया कि सामान्य कपास के खेतों में चरने पर ऐसी स्वास्थ्य समस्याएँ पहले नहीं देखी गयीं थीं व जीएम फसल के आने के बाद ही यह समस्याएँ देखी गयीं। हरियाणा में दुधारू पशुओं को बीटी काटन बीज व खली खिलाने के बाद उनमें दूध कम होने व प्रजनन की गम्भीर समस्याएँ सामने आयीं।

यह ध्यान में रखना बहुत जरूरी है कि जी.एम. फसलों का थोड़ा बहुत प्रसार व परीक्षण भी बहुत घातक हो सकता है। मूल मुद्दा यह है कि इनसे जो सामान्य फसलें हैं वे भी कान्टैमिनेट हो सकती हैं या प्रदूषित हो सकती हैं। यह जेनेटिक प्रदूषण बहुत तेजी से फैल सकता है व इस कारण जो क्षति होगी उसकी भरपाई नहीं हो सकती है। यदि एक बार जेनेटिक प्रदूषण फैल गया तो दुनिया भर में अच्छी गुणवत्ता व सुरक्षित खाद्यों का जो बाजार है, जिसमें फसलों की बेहतर कीमत मिलती है, वह हमसे छिन जाएगा।

जानी-मानी बायोकेमिस्ट व पोषण विशेषज्ञ प्रोफेसर सूसन बारडोक्ज ने कहा है, ''अब तक की सब तकनीकें ऐसी थीं जो नियन्त्रित हो सकती थीं। पर मानव इतिहास में जी.एम. पहली तकनीक है जिससे खतरा उत्पन्न हो गया हो तो इस क्षति को रोका नहीं जा सकता है, क्षतिपूर्त्ति नहीं हो सकती है। जब एक जी.एम. आरगनिज्म या जी.एम. ओ. को रिलीज कर दिया जाता है तो वह नियन्त्रण से बाहर हो जाता है, हमारे पास उसे लौटा लाने का कोई उपाय नहीं है। . ..इसके मनुष्य व अन्य जीवों के स्वास्थ्य पर बहुत गम्भीर परिणाम हो सकते हैं।''

जेनेटिक प्रदूषण से जीएम फसलें उन अन्य किसानों के खेतों को भी प्रभावित कर देंगी जो सामान्य फसलें उगा रहे हैं। इस तरह जिन किसानों ने जीएम फसलें उगाने से साफ इनकार किया है, उनकी फसलों पर भी इन खतरनाक फसलों का असर हो सकता है।

इन सब तथ्यों व प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों की चेतावनियों को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि जिस तरह हमारे देश में जीएम फसलों को बहुत तेजी से फैलाने के प्रयास चल रहे हैं उसके प्रति बहुत सावधान रहा जाए ताकि खाद्य व्यवस्था को किसी भी स्थाई क्षति से बचाया जा सके। ❑

सभ्यतामूलक विकास के अन्तर्विरोध और किसानी

विनोद शाही



शहरीकरण के जितने फायदे हैं, उससे कम नुकसान भी नहीं है। किसानों की जमीन पर बढ़ते शहर चिन्ता पैदा करते हैं। कहीं हम उसी डाल को तो नहीं काट रहे, जिस पर हम बैठे हैं...



लेखक चिन्तक और आलोचक हैं।
drvinodshahi@gmail.com
+919814658098

किसानी के संकट को समझने-समझाने से ताल्लुक रखने वाले, परम्परागत नजरिए बड़ी जल्दी अप्रासंगिक हो जाने वाले हैं। भविष्य के गर्भ में इतने बड़े सवाल और चुनौतियाँ छिपी पड़ी दिखाई देने लग पड़ी हैं कि बात किसानी तक ही सीमित होकर रह जाने वाली मालूम नहीं पड़ती। दरपेश संकट, गहरे में सभ्यता और संस्कृति-गत विकास के मूल्यों का और मानवजाति के अस्तित्व का संकट होता दिखाई देने लग पड़ा है। बेशक इस संकट की उपरी परतें वही हैं, जिनकी अमूमन चर्चा की जाती है कि छोटा किसान तबाह हो रहा है। दलालों और बिचौलियों के द्वारा हथिया ली गयीं अनाज और फलों की मण्डियाँ। किसान और उपभोक्ता दोनों के जानलेवा शोषण का स्रोत होती जाती हैं। बीजों की सुधरी किस्में या अच्छी खाद या ट्रैक्टर कम्बाइन आदि के रूप में शहर और उसकी उच्च तकनीकी घुसपैठ किसानी को दोयम स्थिति में डालने के लिए जिम्मेवार हो रही है। जलस्तर घटते जाते हैं। प्रदूषण के बढ़ते संकट की वजह से मौसमों का कुदरती चक्र डगमगाने लगा है। बैंकों और सहकारी संस्थाओं की मदद तथा सरकार की सब्सिडी और समर्थन-मूल्य की मदद के बावजूद किसानी को कर्जों के दुष्चक्र के भंवर-जाल में उलझे रहने से बचाना मुमकिन नहीं है। फिर शहरीकरण के दबाव की वजह से लगातार कम होती खेती के लायक जमीन की समस्या है, जो कॉर्पोरेट सेक्टर के द्वारा खेती के लायक जमीन को खरीद कर छोटे किसान को किसान ही न रहने देने के हालात में ले जाने का कारण बन कर और गम्भीर होती जाती है। उधर, बड़े जमीन्दार भी खुद खेती न करने से ताल्लुक रखने वाली जीवनशैली को अपनाते जाते हैं और ज्यादातर अपनी जमीन को 'बंटाई' पर देकर शहरी जीवनशैली का हिस्सा हो जाना बेहतर समझने लगे हैं। फिर अपनी जमीन बेचकर विदेशों में जा बसने का सपना देखने वालों की तादाद भी बढ़ती जाती है। तथापि ये तथा इसी तरह की दूसरी बहुत सी समस्याएँ, किसानी से ताल्लुक रखने वाले बुनियादी संकट की केवल ऊपरी सतह भर हैं, क्योंकि अन्ततः, मानवजाति के पास किसानी का कोई विकल्प नहीं है।

शहरीकरण के समाजों को चाहे कितने ही

बड़े फायदे क्यों न हों, एक हद के बाद हमें किसानी को बनाये-बचाये रखने की फिक्र के दौर में लौटना ही होगा।

हमारे दौर में जंगल अब एक संरक्षणीय वस्तु हो गये हैं और हमें अपने संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा उन पर खर्च करके उन्हें बनाये रखने और उनका दायरा बढ़ाने की फिक्र करनी पड़ रही है। उसी तर्ज पर अब हमें बड़ी जल्दी किसानी की ओर भी मुखातिब होने की जरूरत पड़ने वाली है। और उसकी वजह केवल यह नहीं है कि हमें मानव जाति की इतनी बड़ी तादाद का पेट भरने के लिए अनाज के उत्पादन का एक बड़ा स्रोत चाहिए, बेशक वह तो चाहिए ही, परन्तु उसके साथ-साथ हमें किसानी की वजह मिली एक खास सभ्यतामूलक जीवनशैली, मूल्य-व्यवस्था और समाज की आत्मा भी चाहिए - जिसके लिये शहरीकरण कभी माकूल स्रोत नहीं हो सकता है। इसके सबूत मिलने शुरू हो चुके हैं। मानव जाति को धीरे-धीरे आत्मविहीन होने की सम्भावनाओं ने घेरना शुरू कर दिया है-जिसका स्रोत है शहरीकृत जीवनशैली; और जिसका उपचार और समाधान है-किसानी के रूप में पायी और विकसित हुई जीवन-शैली में वापसी। अभी इस बात को मानव जाति ने ठीक से समझना और आत्मसात करना आरम्भ नहीं किया है। परन्तु सम्भावित विकृति के लक्षण प्रकट होने लग पड़े हैं- जिसे वक्त रहते समझना जरूरी होगा।

बात समझने लायक यह है कि जंगल में रहने वाले दौर के आदिम हालात में, मानव जाति प्रकृति पर निर्भर थी। उस दौर में मनुष्य ने पशुओं से लड़ते-जूझते हुए खुद को 'मनुष्य' के रूप में बचाना सीखा था। परन्तु मनुष्य, ठीक से 'मनुष्य' होना तब आरम्भ हुआ, जब वह वनवासी दौर के बाद, कृषिमूलक सभ्यता के दौर में प्रविष्ट हुआ। तब उसने वनस्पतियों के भीतर से मानवोचित फसलों को चुना और उनकी व्यवस्थित रूप में खेती करके उनका उत्पादन शुरू किया। वनवास और किसानी के ये दोनों दौर मूलतः कुदरती और वानस्पतिक उत्पादन में केन्द्रित हैं। और खुद मनुष्य तथा अन्य जीव भी, अन्ततः एक वानस्पतिक वजूद रखते हैं। जीवन का विकासक्रम इसी तर्ज पर हुआ है। वनस्पति, पशु और मनुष्य वाले विकासक्रम में जीवन-रूपों की पूरक आपसदारी के भीतर से मनुष्य जब किसानी तक पहुँचता है तो वह श्रम के 'मूलतः जैव रूप वाले उत्पादन' का हिस्सा बना रहता है। और ये श्रम के 'कुदरती व जीवनमूलक' रूप ही हैं-जो एक जीवनशैली बनकर, मनुष्य को उसकी 'मनुष्य' होने की जमीन और उस पर खड़े होकर अपनी आत्मा को उपलब्ध होने की सम्भावना देते हैं। श्रम मानवदेह की उत्पादनमूलक जीवनशैली है और उसका कुदरती जीवनमूलक सार उसकी आत्मा है - जिसे मनुष्य ने किसानी के सहस्राब्दियों लम्बे इतिहास के दौरान खोजा और पाया है। और जिसे हम शहरीकरण कहते हैं, वह अगर किसानी का पूरक विकास होता है, तो वह अपने आत्मविहीन होने की सम्भावित विकृति या बीमारी से खुद को बचा सकता है। इसकी वजह यह है कि शहरीकरण से जुड़े विकास के मूल में जो यान्त्रिक व उच्च तकनीक वैज्ञानिक विकास प्रक्रियाएँ हैं - वे मानव जाति के ऐसे श्रम-उत्पादन की जीवनशैली में ले गयी हैं - जो उपलब्ध कुदरती जीवन-रूपों तक का विखण्डन करके ही अपनी विकास की रफ्तार को तेज कर पाता है। इससे कुदरती संसाधनों के स्रोत ही खाली नहीं होते जा रहे हैं, बढ़ते प्रदूषण और जीवन रूपों के लिए खतरा बनते जाते 'बाई-प्रोडक्ट्स' में भी धरती भरती जा रही है। अन्ततः जीवन और जीवन रूपों के विरोध में जाने वाले श्रम-उत्पादक की जीवनशैली और मूल्यों को भी 'आत्मविहीन' होते जाने के संकट से घिरना पड़ता है। यहाँ से निकट भविष्य में वापसी अनिवार्य होती जाएगी - भले ही अभी यह उसकी पूर्व भूमिका का दौर ही है। पर किसानी वाले सभ्यतामूलक दौर में हमने जो बड़े मूल्य और सांस्कृतिक धारणाओं का विकास किया है- अब हमें उनकी पुनर्व्याख्या कर नये सिरे से समझने की जरूरत पड़ेगी। 'ब्रीड' (अनाज) में 'ब्रह्म' पैदा हुआ है और 'जो बोओगे, वही काटोगे' की चेतना मानवजाति का कर्मदर्शन हो सकी है। यही वह नैतिक चेतना और मूल्यविधान है, जो किसानी के साथ संकटग्रस्त हो गया है, इसे बचाना ही होगा।

❑

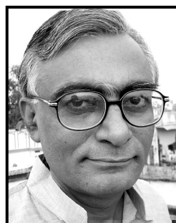
कृषि विनाश की कहानी

अनिल प्रकाश



बिहार के युवा किसानों ने जैविक खेती के प्रयोग से यह साबित कर दिया है कि यह रसायनिक खेती से हर मायने में बेहतर है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि सरकार और समाज दोनों ही स्तरों पर जैविक खेती को व्यापक समर्थन मिले।

जहाँ देश के लगभग 68 प्रतिशत लोग गाँव और कृषि पर निर्भर हैं वहीं बिहार की 88.7 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है और कृषि, पशुपालन, मछलीपालन तथा कुटीर उद्योगों के आधार पर जीवनयापन करती है। कृषि क्षेत्र की उपेक्षा, सामन्ती भूमि सम्बन्ध और नदियों के प्रबन्धन में हुई गम्भीर गलतियों के कारण अत्यधिक उर्वर भूमि वाला बिहार का ग्रामीण क्षेत्र गरीबी में जी रहा है। बड़ी सँख्या में लोगों को रोजी-रोटी के लिए दूसरे राज्यों में पलायन करना पड़ता है। लेकिन इन्हीं प्रवासी मजदूरों द्वारा भेजे गये पैसों से बिहार के आर्थिक जीवन में गतिशीलता है तथा विकास का सिलसिला तेज हुआ है और सामाजिक सम्बन्धों में भी बड़ा बदलाव आया है। साथ ही भूमि सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ रहा है। यह सब नीचे से हो रहा है। इससे स्थानीय स्तर पर रोजगार के नये अवसर भी पैदा हो रहे हैं। लेकिन दुखद बात यह है कि आज भी यहाँ की प्रशासनिक मशीनरी योजना व्यय, (जिसमें कृषि क्षेत्र की आवंटित राशि भी शामिल है) की पूरी राशि खर्च नहीं कर पाती। काफी राशि हर साल लौट जाती है। पिछले वर्ष की तुलना में इस वित्तीय वर्ष में कृषि क्षेत्र के लिए योजना व्यय की राशि लगभग दुगुनी कर दी गयी है। लेकिन 24 हजार करोड़ रुपए के कुल योजना व्यय में यह अभी भी मात्र 846.86 करोड़ ही है। बिहार का भविष्य उज्ज्वल तभी हो सकता है जब कृषि से सम्बन्धित क्षेत्रों का विकास किया जाए और कृषि आधारित छोटे-छोटे उद्योगों का जाल बिछाया जाए। इसके लिए ज्यादा पूँजी की जरूरत नहीं होगी लेकिन करोड़ों बेरोजगार के लिए आजीविका के सम्मानपूर्ण अवसर प्राप्त होंगे। अब तक इस दिशा में कोई ठोस नीति नहीं बनी है। उल्टे बड़ी-बड़ी बीज कम्पनियाँ किसानों को झांसे में डालकर अनैतिक रूप से अपने बीजों का ट्रायल करवाती रहती हैं और बार-बार किसानों को कंगाल बना देती हैं। अगर हम अपने कृषि क्षेत्र को इस प्रकार के षड्यन्त्रों से बचा लें और सही तरीके से उसकी तरक्की पर बल दें तो बिहार खुशहाली की राह पर तेजी से चल पड़ेगा। जिन बड़े-बड़े भूपतियों ने सीलिंग से फाजिल जमीन, गैरमजरुआ मालिक जमीन तथा भूदान की जमीन (जो



लेखक प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता आन्दोलनकारी हैं।
anilprakashganga@gmail.com
+919304549662

कुल मिलाकर लगभग 60 लाख एकड़ है) पर नाजायज कब्जा जमा रखा है और उस पर ठीक से खेती भी नहीं करते और परिणामत: उन खेतों की प्रति एकड़ उत्पादकता भी बहुत कम है। उसे मुक्त करा कर भूमिहीन किसानों में बांट दिया जाए। तो काहिली और निठ्ठलेपन की संस्कृति समाप्त होगी और उद्यमशीलता तेजी से बढ़ेगी। यह 60 लाख एकड़ जमीन 60 लाख भूमिहीन परिवारों को मिल जाए तो एक ओर बिहार के अन्न उत्पादन में अत्यधिक बढ़ोतरी हो जाएगी तथा लोगों को जीविका का सम्मानजनक साधन मिल जाएगा।

बिहार सरकार के कृषि विभाग के अधिकारियों ने आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र से बड़ी-बीज कम्पनियों के मूंग के बीज मंगवाकर किसानों के बीच उनका मुफ्त वितरण करवाया। उसके साथ खाद, कीटनाशक, खरपतवार नाशक आदि भी वितरित किये गये। पौधे खूब लहलहाये। उन्हें देखकर किसान हर्षित थे। लेकिन इन पौधों में दाने नहीं आये। जिन किसानों ने राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा (समस्तीपुर) के एस. एम.एल.-668 तथा सोना नामक बीज या अपने स्थानीय बीजों का प्रयोग किया था, उनमें खूब दाने आये थे। मुजफ्फरपुर जिले के एक हजार किसान आज रो रहे हैं। मधुबनी, दरभंगा, सुपौल और बक्सर के किसानों ने भी बताया कि उनके यहाँ भी मूंग की फसल में दाने नहीं आये। बिहार के कृषि विभाग के पास मूंग के क्रॉप फेल्योर की पूरी जानकारी है, लेकिन वे छिपाने की कोशिश कर रहे हैं। किसानों की फसल क्षति का मुआवजा देने से भी इनकार कर रहे हैं। कृषि विभाग के संयुक्त कृषि निदेशक राजेन्द्र दास का कहना है कि रबी या खरीफ फसल में क्षतिपूर्ति अनुदान की व्यवस्था की गयी है। लेकिन गरमा फसल(मूंग आदि में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था सरकार ने नहीं की है। कृषि विभाग को किसने यह अधिकार दिया कि इतने बड़े पैमाने पर किसानों को अँधेरे में रखकर मूंग के बीज का ट्रायल करवाये?

क्या नीतीश कुमार को यह बात याद नहीं कि कुछ महीने पहले ही उन्होंने बिहार के मुख्यमन्त्री की हैसियत से तत्कालीन केन्द्रीय पर्यावरण मन्त्री जयराम रमेश को पत्र लिखकर ड्यूपौंट, पायोनियर, मोंसाटो आदि कम्पनियों के बीजों के ट्रायल पर रोक लगाने की मांग की थी। मक्के के बीज का ट्रायल रूक भी गया। नीतीश कुमार ने पत्र में लिखा था कि इन कम्पनियों के जी.एम. तथा हाइब्रिड बीजों के कारण, मक्के के पौधों में दाने नहीं आये थे। इनसे खेती बर्बाद होती है। हालाँकि नीतीश कुमार ने उन कम्पनियों को न तो ब्लैकलिस्टेड किया और न उन पर जुर्माना लगवाया। सच तो यह है कि ड्यूपौंट की सब्सिडियरी कम्पनी पॉयनियर के महँगे धान के बीजों तथा अन्य कम्पनियों के गेहूँ और दलहन के बीजों को भारी सब्सिडी देकर बिहार का कृषि विभाग किसानों के बीच वितरित करवा रहा है। क्या यह नीतीश कुमार की जानकारी में नहीं है। क्या नीतीश कुमार इसके लिए जिम्मेदार लोगों को दण्डित कराएंगे।

2010 में भी बिहार के किसानों ने लगभग दो लाख एकड़ में ड्यूपौंट की सब्सिडियरी पायोनियर के पायोनियर-92, डी. काल्ब कम्पनी की सब्सिडियरी लक्ष्मी के लक्ष्मी डी. काल्ब–198 तथा पिनकोल जैसी कम्पनियों के बीजों का प्रयोग किया था, लेकिन उनमें दाने नहीं आये। किसानों ने इन बीजों को 180 रुपये से 285 रुपये प्रति किलोग्राम की दर पर खरीदा था। खाद, बीज, सिंचाई, मेहनताना सब मिलाकर लगभग 10 हजार रुपये प्रति एकड़ की लागत आयी थी यानी 25 हजार रुपये प्रति हेक्टेयर की लागत। 80% किसानों ने महाजनों से 5 रुपये प्रति सैकड़ा प्रति माह की दर से कर्ज लेकर यह खेती की थी। उनको कम्पनियों के एजेंटों ने यह भरोसा दिलाया था कि फसल इतनी होगी कि वे मालामाल हो जाएंगे। जिन किसानों ने राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा, सबौर कृषि विश्वविद्यालय, भागलपुर या पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय द्वारा विकसित बीजों यथा रबी हाई स्टार्च, गंगा एलेवन, त्रिसुप्ता, हेमन्त, देवकी, राजेन्द्र संकर मक्का-12, वसन्ती एवम् गरमा सुआन या दियारा कम्पोजिट, गंगा सफेद-2 या स्थानीय बीजों का प्रयोग किया था, उनमें दाने भरपूर आये थे।

शुरू में बिहार के कृषि विभाग के अधिकारी तथा तत्कालीन कृषि मन्त्री रेणु देवी मक्के में दाना न आने की बात को ही झुठलाती रहीं। बड़ी जद्दोजहद के बाद मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार ने विधान सभा में स्वीकार किया था कि 63 हजार हेक्टेयर (1 लाख 59 हजार एकड़) में मक्के की फसल में दाने नहीं आये। सरकार ने 10 हजार रुपये प्रति हेक्टेयर मुआवजा देने की घोषणा की थी। यह रकम खेती की लागत से आधी से भी कम थी जबकि मुआवजा लागत के अतिरिक्त फसल की सम्भावित उपज के मूल्य के आधार पर दिया जाना चाहिए था। बड़ी सँख्या में किसानों को वह मुआवजा नहीं मिला। बटाइदारों को तो एक पाई भी नहीं मिली। कृषि विभाग के जो अधिकारी इन बीजों के प्रयोग की छूट देने के लिए जिम्मेवार थे उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए था, लेकिन कोई कार्रवाई नहीं हुई।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अप्रैल, 2003 में उत्तर बिहार के किसानों ने लगभग 1 लाख 80 हजार एकड़ भूमि में मोंसांटो कम्पनी के 'कारगिल 900 एम' बीज का प्रयोग करके मक्के की खेती की थी। (1998 में मोंसांटो ने दुनिया में 80 फीसदी अनाज का व्यापार करने वाली कारगिल कम्पनी से उसका सीड डिवीजन खरीद लिया था।) उन खेतों में फसल लहलहाई। मक्के के हरे-हरे पुष्ट बालों को देखकर किसान हर्षित हुए। जब उन्होंने बालों के पत्तों के आवरण को छीला तो पाया कि उसमें दाने नहीं थे। और, बिहार के गाँवों में हाहाकार मच गया था।

यहाँ सवाल यह भी है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने बीजों का प्रयोग इतने बड़े पैमाने पर करने की अनुमति कैसे मिल जाती है? बिहार सरकार के कृषि विभाग के अधिकारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीजों के प्रोत्साहक और प्रचारक कैसे बन जाते हैं? बिहार के दो-दो कृषि विश्वविद्यालय और उसके कृषि वैज्ञानिक इस प्रयोग पर चुप्पी क्यों साधे रहे? दोषी बीज कम्पनी से न तो हर्जाना वसूला जाता है, न उसे ब्लैक लिस्ट किया जाता है और न बिहार के कृषि विभाग के गैर जिम्मेदार और दोषी अधिकारियों पर कभी कोई कार्रवाई होती है।

दरअसल, ड्यूपौंट, मोंसांटो, डी. काल्ब जैसी विशालकाय कम्पनियाँ अपने टर्मिनेटर तथा हाईब्रिड बीजों के सहारे बीज के बाजार पर अपना एकाधिकार करना चाहती है। इन बड़ी

कम्पनियों की वैश्विक आय का आधा खरपतवारनाशकों तथा अन्य रसायनों से आता है। ये कम्पनियाँ राजनेताओं, नौकरशाहों तथा कृषि वैज्ञानिकों के एक तबके को बड़े पैमाने पर आर्थिक लाभ पहुँचाकर अपने पक्ष में फैसला कराने के लिए दुनियाभर में कुख्यात हैं।

मक्के से शराब और एथनोल बनाने में सहूलियत हो इसके लिए निर्वंश जी.एम. बीजों का प्रयोग बढ़ाने की कई साजिशें पिछले एक दशक में उजागर हुई हैं। जी.एम. बीजों से उत्पादित अनाज खाने से बीमारियों की सम्भावना रहती है। इसलिए अमेरिका में इस प्रकार के अनाज से शराब और एथनोल बनाया जाता है, हालाँकि इसके कारण वैश्विक खाद्य संकट पैदा हो गया है। बिहार में मक्का तथा दुर्लभ फल लीची से शराब बनाई भी जाने लगी है। पिछले वर्ष एक हजार एकड़ में लगी लीची के हरे-हरे कच्चे फलों को तोड़ कर शराब बनाई गयी और इस साल तीन हजार एकड़ में लगी लीची की शराब बनाई गयी। सरकार ने इसकी इजाजत दी। काफी लोग इसके विरोध में खड़े हैं और कहते हैं कि मक्के को खाने के अनाज, पशुचारा तथा ग्लूकोज आदि बनाने के काम में लाया जाय। लीची से स्क्वैश बने, शराब नहीं। आलू के लिए कोल्ड स्टोरेज बनें। इसका उपयोग सब्जी तथा चिप्स बनाने में हो, शराब के लिए नहीं।

बिहार के राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय तथा सबौर कृषि विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने विभिन्न इलाकों की मिट्टी के अनुकूल बीजों की तलाश एवम् शोध करके उन्हें विकसित किया है जिनकी प्रति हेक्टेयर उत्पादकता बड़ी-बड़ी बीज कम्पनियों के बीजों से ज्यादा ही है, कम तो हर्गिज नहीं। परन्तु विडम्बना यह है कि बिहार सरकार का कृषि विभाग इन बीजों को किसानों के बीच वितरित करने में बहुत कम दिलचस्पी लेता है। भारी सब्सिडी देकर बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियों के महँगे बीजों को बेचा या मुफ्त बाँटा जाता है। इस बात की गारण्टी भी नहीं होती कि उन पौधों में दाने निकलेंगे या नहीं। जिस पायोनियर ड्यूपौंट के मक्के के बीज से पिछले वर्ष लगभग दो लाख एकड़ में लगे मक्के के पौधों में दाने नहीं आये थे उसी कम्पनी के धान के महँगे बीज को भारी सब्सिडी देकर बिकवाया गया। कई जगह गेहूँ में क्रौप फेल्योर की शिकायत आ चुकी है। राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय पूसा के पास 15-20 प्रकार के धान के बीज हैं। 'भगवती' नाम का एक सुगन्धित धान भी है जिसकी पैदावार 24 क्विंटल प्रति एकड़ होती है। मूंग, अरहर, मसूर, चना, मक्का तथा गेहूँ के बेहतर बीज भी उपलब्ध हैं। लेकिन कृषि विभाग ने इस विश्वविद्यालय के सिर्फ 4 हजार क्विंटल बीजों का प्रयोग कराया है। पिछले वर्ष की तुलना में कृषि क्षेत्र के लिए योजना व्यय की राशि दुगुनी कर दी है। लेकिन कृषि सब्सिडी का ज्यादा हिस्सा बीज कम्पनियों को मिल जाता है और किसान रोते हैं। पिछले 6 वर्ष में यह साबित हो गया है कि कृषि और उससे जुड़े छोटे उद्योग ही बिहार की तकदीर बदल सकते हैं।

बिहार के अनेक युवा किसान अपने खेतों में सोना उपजाने लगे हैं। उनकी गेहूँ की बालियाँ अब पहले से बड़ी होती हैं। अमूमन एक बाली में 42 से 52 दाने होते हैं। लेकिन इन किसानों को गेहूँ की बालियों में 72 से 82 दाने होते हैं। दाने भी काफी पुष्ट। मकई तथा अन्य फसलों में भी इसी प्रकार की उपज वृद्धि हुई है। इन किसानों ने रासायनिक उर्वरक और जहरीले कीटनाशकों का प्रयोग बन्द करके जैविक कृषि की शुरुआत की है। केंचुआ खाद (वर्मी कम्पोस्ट) नीम की पत्तियों तथा गोमूत्र के संयोग से बने कीटनाशक के प्रयोग का ही कमाल है कि दो वर्षों के अन्दर ही उनके खेतों की उर्वरा शक्ति लौट आयी। जब रासायनिक खेती का प्रयोग हुआ था तो उपज बढ़ी थी। लेकिन धीरे-धीरे उर्वराशक्ति क्षीण होती गयी और खेती का खर्च बढ़ता गया। जैविक कृषि के द्वारा कम सिंचाई में ही अच्छी फसल होने लगी है, क्योंकि अब मिट्टी में वर्षा जल को सोखकर टिकाए रखने की क्षमता काफी बढ़ गयी है। जिन खेतों में जैविक खादों के सहारे सब्जी उगाई जा रही है, वहाँ की सब्जियाँ ज्यादा स्वादिष्ट और पौष्टिक हैं। लीची के जिन बागानों में जैविक खाद और जैविक कीटनाशक का प्रयोग हो रहा है वहाँ की लीची रंग, आकार और स्वाद में बेहतर होता है। जैविक खेती द्वारा उत्पादित अनाज, फल और सब्जियों के भाव भी ज्यादा मिलते हैं।

रासायनिक कृषि से फसल चक्र भी बिगड़ गया है। एक ही प्रकार की फसल बार-बार लगाने पर मिट्टी की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है। दाल और अनाजवाली फसलों को अदल-बदल कर बोने या मिश्रित खेती से खेत उर्वर बने रहते हैं। रासायनिक कृषि से पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व भी समाप्त होते हैं। मिट्टी की जाँच का झंझट सामने आता है और सूक्ष्म पोषक तत्त्वों को महँगे दाम पर बाजार से खरीदकर खेतों में छिड़कना पड़ता है जबकि एसिनिया फटिडा केंचुआ द्वारा निर्मित जैविक खाद में नाइट्रोजन फॉस्फेट और पोटैशियम के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा में कैल्शियम, मैग्नीशियम, गोबाल्ट, मोलिब्डेनम, बोरोन, सल्फर, आयरन, ताम्बा, जस्ता, मैंगनीज, जिबरैलीन, साइटोकाइनीन तथा ऑक्सीजन पाया जाता है। इसके अलावा इसमें बहुत सारे बायोऐक्टिव कंपाउंड, विटामिन तथा एमिनो एसिड होते हैं।

बिहार के हजारों किसान मधुमक्खी पालन करके खुशहाल हुए हैं। जिन फसलों के पास मधुमक्खी के बक्से रखे जाते हैं वहां उपज में 20 से 35 प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाती है, क्योंकि मधुमक्खियाँ परागण में मददगार होती हैं। लेकिन जहरीले रासायनिक कीटनाशकों के कारण काफी मधुमक्खियाँ मर जाती हैं। इसके कारण तितली, केंचुए, मेढ़क आदि खेती के मित्र जीव-जन्तु भी मर जाते हैं। कौए, गौरैये, कोयल, मैना तथा अन्य चिड़ियों की चहचहाहट तथा कबूतरों की 'गुटुर गूं' भी कम सुनाई देती है। चील और गिद्ध तो दिखाई ही नहीं देते हैं। जहाँ जैविक खेती हो रही है वहाँ जन्तुओं की सुरसुराहट, चिड़ियों की चहचाहट का मधुर संगीत फिर से सुनाई देने लगा है। ❑

खेती नहीं सभ्यता का भी संकट

विजय कुमार



एक समय था जब खेती पारम्परिक थी तो स्वावलम्बी भी थी। किसान आत्मनिर्भर थे। ज्यों-ज्यों तकनीक का विकास हुआ, विदेशी बीजों का आगमन हुआ, रसायनिक खादों और कीटनाशकों का इस्तेमाल बढ़ता गया, खेती खराब होती गयी। आज स्थिति यह है कि लाचारी का नाम खेती है। इस बदहाली के लिए कौन जिम्मेवाद है?

खेती किसानी का संकट मूलरूप में गाँव का संकट है। गाँव का यानी सभ्यता का संकट है। सभ्यता का संकट अर्थात जीवन पद्धति का संकट है। भारत कृषि प्रधान देश है। ग्रामीण प्रधान देश है। भारतमाता ग्रामवासिनी आदि ढेर सारी बातें हम सुनते आये हैं। आज भी लगभग 70 प्रतिशत आबादी गाँव और खेती किसानी पर निर्भर है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में तथा राष्ट्रीय कृषि नीति दस्तावेज में कृषि के लिए चार प्रतिशत विकास दर का लक्ष्य रखा गया है। जबकि पिछले पचास सालों के दौरान कृषि विकास दर मात्र दो प्रतिशत रहा है। सकल घरेलू उत्पाद में कृषि क्षेत्र का योगदान मात्र 17 से 23 प्रतिशत तक रह गया है। जबकि आजादी से पहले यह 47 से 54 प्रतिशत तक था। आजादी के बाद हरित क्रान्ति का दौर चला। उत्पादन बढ़ा तो खाद्यान संकट भी बढ़ा। खेती अलाभकारी होती गयी। जनसंख्या बढ़ी। जोत के आकार घटते गये। खेती अब उत्तम कार्य नहीं रह गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी और अर्धबेरोजगारी बढ़ी। खेतिहरों से जुड़े परम्परागत रोजगार समाप्त हो गये। भूमि पर काम करने वाला किसान, मजदूर कारीगर अधपेटा और अधनंगा हो गया। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। कर्ज के तले दबे हैं। लिखे-पढ़े लोगों ने गाँव को अनपढ़ों और अज्ञानियों का भण्डार मान लिया। गाँव आज ईर्ष्या, द्वेष कलह, निन्दा और नशाखोरी का अड्डा बन गया। औद्योगिक विकास, उपभोक्तावाद, शहरी तामझाम अर्थात आधुनिक सभ्यता का आकर्षण इतना बढ़ा कि शहरी क्षेत्र पर आबादी का बोझ बढ़ गया। दूसरी तरफ खेती आधारित उद्योगों के खात्मे के कारण खेती क्षेत्र पर भी आबादी का दबाब बढ़ा। किसान, मजदूर और कारीगर सभी या तो आपस में उलझ गये या पलायन कर गये। आचार्य राममूर्त्ति लिखते हैं कि-''खेती में किसान पूँजी लगाता है, मजदूर मेहनत करता है और कारीगर औजार बनाता है। इनमें से कोई एक न रहे तो खेती नहीं हो सकती है। इसलिए तीनों को खेतिहर न कहें तो और क्या कहें? एक तरह से खेतिहर मालिक है-एक पूँजी का, दूसरा श्रम का, तीसरा हुनर का।'' आज जो व्यवस्था चल रही है, उसमें तीनों खेतिहरों की हालत खराब है। किसान को दाम



लेखक प्रखर समाजकर्मी और प्राध्यापक हैं।
vijaygthought@gmail.com
+919431875214

नहीं मिलता, मजदूर को उचित मजदूरी नहीं मिलती और कारीगरों का काम कारखानों ने छीन लिया। इसमें से किसको कहें कि उसका दूसरे से हाल अच्छा हैं। पीने का पानी तक नहीं है, प्राय: वह दलित है। इसलिए नीच समझा जाता है। उसके साथ दुराव बरता गया। भरपेट रोटी न मिले और पग-पग पर अपमान सहना पड़े तो आदमी कैसे रहे? गाँव में रहने वाले कुछ परिवार रहते भी हैं, जो खेत तो रखते हैं और खेती भी कर लेते हैं, या बटाईदारी, ठेकेदारी पर देते हैं, लेकिन मुख्य आमदनी खेती से न होकर दूसरे धन्धों जैसे-महाजनी, व्यापार, नौकरी, ठेकेदारी, नेतागीरी, तस्करी आदि से होती है। ऐसे लोगों को खेतिहर मानना ठीक नहीं है। उनका पेट खेती से नहीं भरता है और उनके मुख्य सवाल भी खेती के नहीं हैं। अब किसान यानी खेत के मालिक ज्यादातर खेत का किराया वसूलते हैं। प्रख्यात सर्वोदयी ठाकुर दास बंग लिखते हैं कि- ''आज गाँव में फूस की झोपड़ियाँ मजदूरों की है। खपरैल उनके हैं जिनके पास खेती के अलावा कुछ नहीं है। पक्के मकान उन लोगों के हैं जो खेती तो करते हैं या दूसरों से कराते हैं, लेकिन उनकी मुख्य कमाई होती है किसी और बात से।'' आने वाली पीढ़ी में शायद खेती करने वाले लोग न बचें। नौकरी की गारण्टी हो तो किसान अपनी जमीन देने को तैयार है। प्राकृतिक असन्तुलन, पर्यावरण संकट, प्रदूषण, खेत की उर्वराशक्ति का ह्रास, बाढ़ और सुखाड़ की मार ऊपर से है। यह संकट भगवान ने नहीं पैदा किया है- संकट व्यवस्था का है। सोच का है। इससे ऊपजी सभ्यता है। अत: संकट आसमानी नहीं हैं सुल्तानी है।

खेती किसानी का संकट गहरे अर्थो में हमारी जाति व्यवस्था से भी जुड़ा है जो श्रम विभाजन के माध्यम से अपमान पैदा करता है। सच तो यह है कि आज खेतिहर समाज यानी किसान, मजदूर और कारीगर और प्रकारान्तर से ग्रामीण समाज नये प्रकार के जातिवाद का काफी शिकार हो रहा है। वह समाज असभ्यता, आलस्य और अक्लहीनता के आरोप से आपेक्षित है। अब खेती वही करता है, जिसके पास कोई ऊपाय नहीं है। वह ठगी, प्रताड़ना और उपहास का पात्र हो गया है। ग्रामीण समाज की हालत कैसी हो गयी है कि एक खेतिहर अपने कन्धे पर बकरी का बच्चा लेकर जा रहा था कि तीन ठग पड़ गये उसके पीछे। एक ने कहा, दूसरे ने भी कहा और तीसरे ने भी कहा कि कुत्ते का बच्चा लेकर कहाँ जा रहे हैं? बेचारा खेतिहर संशय का शिकार हुआ और बकरी के बच्चे को कुत्ता समझ कर कन्धे से उतारकर भाग खड़ा हुआ। आज का सच खेती और खेतिहर के सन्दर्भ में यही है। गया वह जमाना जब कहा गया था कि-उत्तम खेती, मध्यम वाण, निर्धन चाकरी, भीख निदान। बदले जमाने में तो खेती गन्दा और बेवकूफी का काम है। जहाँ रोटी और इज्जत दोनों संकट में है। ऐसा किसने किया?

ध्यान से देखें तो कौन है वह जो बकरी के बच्चे को कुत्ता कह रहा है। लिखे-पढ़े लोग। पढ़ा-लिखा नहीं। पढ़ा-लिखा तो ज्ञानी होता है, जिसमें राजनेता, पदाधिकारी, पत्रकार, उद्योग जगत और स्वयँ खेतिहरों की सन्तान भी शामिल हैं। सबने मिलकर खेतिहर समाज को, ग्रामीण समाज को नये प्रकार की शूद्र श्रेणी में ढकेल दिया। यह दूसरे प्रकार का संकट है। गुजरात विद्यापीठ की आधारशिला रखते हुए महात्मा गाँधी ने कहा, ''मैं वणिक पुत्र मोहनदास करमचन्द गाँधी अगर ब्राह्मणत्व का कार्य कर सकता हूँ तो आज गुजरात विद्यापीठ की आधारशिला रखते हुए वह कार्य सम्पन्न कर रहा हूँ।'' एक निजी बातचीत में उन्होंने महामना मदन मोहन मालवीय जी से यह भी कहा था- ''लगता है अब हमसब लोगों को शुद्र हो जाना चाहिए।'' विद्वतजन गाँधी के इस कथन के मर्म का विश्लेषण करें तो बात समझ में आ जाएगी। शास्त्रीय बात है। विद्या के दो रूप-एक सांसारिक और दूसरा पारलौकिक। अपरा विद्या और परा विद्या। पुराना जमाना। सांसारिक सच तो खेती, मजदूरी, कारीगरी, सेवा थी या जो इस विद्या के जानकार तब थे वही तो प्रकारान्तर से शुद्र घोषित कर दिये गये थे। इसे जन्मना आधार देकर द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि ने सुख भोगा था। आज के डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, राजनेता, अफसर क्या कर रहे हैं? लड़े सिपाही, नाम हवलदार का। कमाओ हे लंगोटिया, भाग दुर्गादास का। छठा वेतन आयोग। नया ताकतवर समाज। समर्थ समाज। समरथ को नाहीं दोष गुसाई। चल रहा है। आज खेतिहर असमर्थ है। सभ्यता ने हाशिये पर ढकेल दिया है। पारम्परिक ग्रामीण समाज अब ग्राम्यशहरीकरण को आत्मसात कर चुका है। पुराने जमाने की बात और थी।

उस जमाने की खेती-किसानी में इतना जरूर था कि जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ जो सीमित थीं, लगभग पूरी हो जाती थीं। जमाना बदला तो नयी-नयी मशीनें आयीं। नयी पद्धति आयी। तो एक स्तर तक पारम्परिक कृषि क्षेत्र जो स्वदेशी और स्वाबलम्बी था, वह बदल गया। उस जमाने के पढ़े-लिखे ऐसे लोग जो मानसिक कार्य करते थे, उनकी सँख्या भी कम थी। समाज उसके बोझ को भी उठा लेता था। ज्ञान का संसार विद्या और अपरा विद्या में बँटा था। दोनों क्षेत्र के ज्ञानियों का गुजारा हो जाता था। ज्ञानियों का संसार बदल गया है। अब पढ़े-लिखे लोगों का स्थान लिखे-पढ़े लोगों ने ले लिया है जो विशाल होता जा रहा है। यह तबका पारम्परिक ब्रह्मवाद का स्वाभाविक दावेदार बनकर उभरा है। इसका आधुनिक शिक्षा से गहरा रिश्ता है, जो मूलरूप से मुनष्य को मेहनत से, उत्पादक को शरीर श्रम से दूर ले जाता है। लोभ-लालच और संग्रह की प्रवृत्ति पैदा करता है। इसके अन्दर भी जातिवाद है। विशिष्टता बोध से लैस यह तबका आधुनिक व्यवस्था को ए-ग्रेड, बी-ग्रेड, सी-ग्रेड और डी-ग्रेड के नौकरों में बदल चुका है। किसान, कारीगर, मजदूर आदि तो आज पंचम ग्रेड यानी पारम्परिक रूप से पंचम वर्ण की जगह ले चुका है। लिखे-पढ़ों का आधुनिक तबका आधुनिक चाल-चलन, रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल और नीयत से लैस है। इन तबकों के उभार को हीं देखकर डॉ. राम मनोहर लोहिया को नारा बनाना पड़ा था- ''ऊँची जात की क्या पहचान? गिटपिट बोले करे न काम। नीची जात की क्या पहचान? कमर तोड़ मेहनत करे और सहे अपमान।''

आज की ऊँची जात कौन है? यही लिखा-पढ़ा तबका। आधुनिक विद्या का ज्ञाता। अपरा और परा विद्या का भेद मिट गया है। साधु, संन्यासी, राजनेता, टेक्नोक्रेट, ब्यूरोक्रेट, हिपोक्रेट, इंडस्ट्रोक्रेट, एग्रोक्रेट आदि-आदि। स्थापित डेमोक्रेट जो बातें ज्यादा और काम कम करता है। पूरा समाज सरकार, एन.जी. ओ., मीडिया और मुफ्तखोरों के कब्जे में,

नौकरों के कब्जे में। उसका पोषण विशाल बाजार कर रहा है। बाजार जो उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण का मन्त्रजाप कर रहा है। संसाधनों के लूट की खूली छूट है। मुनाफा के उदार लोकतन्त्र और उदार अर्थतन्त्र। इसके पैरोकार बुद्धिजीवियों, लिखे-पढ़े लोगों, नगरी सभ्यता के विशिष्टता बोध से लैस औद्योगिक समाज ने युक्तिपूर्वक गाँव-गरीब को, खेती पर निर्भर मजदूरों को, कारीगरों को नये प्रकार के शुद्र श्रेणी में बदलने को विवश कर दिया है। आधुनिकता की बुराई और पौराणिकता की बुराई गहरे स्तर पर तालमेल बिठाकर अच्छाई पर हमला भर है। दुर्भाग्य से पौराणिक शूद्र समाज से निकले लोग भी जिनसे अन्तिम जन को आया था, वैसी नवधनाढ्य बनने की होड़ में नवब्राह्मणों के साथ मिलकर लंगूर बनने को बेताब हो गये। यह तीसरे प्रकार का संकट है।

एक चौथा संकट भूमि स्वामित्व के रूप में है। जिसको लेकर काफी कुछ हंगामा होता रहता है। जीवन-जमीन से जुड़ा, पर दुनिया इसके सम्बन्धों का सन्तोषजनक हल 21वीं सदी में भी नहीं निकाल पायी है। साम्यवादी सरकारीकरण, इजराइल का सहकारीकरण तथा व्यक्तिगत मिल्कियत विफल हो गये। कत्ल, करूणा और कानून के प्रत्यय भी समाधान नहीं दे पाये। भूमि माता-भूमि समस्या बन गयी। जमीन हड़पने वाले को भूमिपति कहलाने जैसे गन्दे शब्दों से भी गुरेज नहीं है। वैदिक शास्त्रों में कहा गया कि- 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथ्विया:' धरती माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। बिनोवा जी ने कहा- 'सवै भूमि गोपाल की।' 1919 के विश्व साम्यवादी सम्मेलन में मार्क्स ने कहा- 'सम्पत्ति की अवधारणा समाप्त होनी चाहिए।' धरती किसी की सम्पत्ति नहीं हो सकती है। गाँधी ने तो न केवल मनुष्य बल्कि मनुष्येत्तर प्राणी जगत के लिए भी प्रकृति से जरूरत पूरी करने पर जोर दिया और लोभ-लालच से बचने का सन्देश दिया। भूमि के मालिकी का एक मॉडल यह हो सकता था।

प्राचीनकाल में एक दूसरा मॉडल मनु ने प्रस्तुत किया। मनु ने कहा- ''धरती पर अधिकार इसके प्रथम कर्षण'' करने वालों का होगा यानी जमीन जोतने वाले की होगी। समाजवादी और साम्यवादी ने कहा- जमीन किसकी? जोते उसकी। आजादी के जमाने में भी नारे लगे-जो जमीन को जोते-बोये वो जमीन का मालिक होवे। लैंड टू दी टीलर्स। एक तीसरा मॉडल पूँजीवाद ने दिया है-जमीन सम्पत्ति है और उसका अर्जन कहीं भी, कोई भी कर सकता है। सबसंटी लैंड लार्डिज्म। इजराइल से कॉपरेटिव फार्मिंग का प्रयोग किया। आज भूमि के मालिकी का प्रश्न निजी, समाज, सरकार, सहकार के बीच उलझ गया है। भारतीय सन्दर्भ में इसका विकल्प तभी मिल सकता है, जब लूट की छूट के अर्थशास्त्र से बाहर निकले। कहा जाता है कि मुगलकाल तक भारतीय गाँव स्वाबलम्बी और कई अर्थों में स्वतन्त्र था। ब्रिटिश शासन ने गाँव के इस तन्त्र को तोड़ने की कोशिश की। सरकार और राज्य के रूप में एक सर्वशक्तिमान संस्था का अम्युदय हुआ। वर्ष 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में परमानेण्ट सेटलमेण्ट (स्थायी बन्दोवस्ती) का कानून लागू किया। यही प्रथा बिहार में भी लागू हुई। क्योंकि तब बिहार बंगाल का हिस्सा था। इस व्यवस्था ने सरकार और जोतदार के बीच जमीन्दार पैदा किया। किसान और सरकार के बीच का नया अभिजात्य वर्ग। इस प्रथा के कारण लगान वसूली का क्रूर तरीका सामने आया। जमीन्दारों ने असीम शक्ति प्राप्त की। जमीन की नीलामी आम बात हो गयी। यही दौर था जब खेती का व्यवसायीकरण हुआ। किसानों को नकदी फसल जैसे-नील, गन्ना, कपास आदि पैदा करने के लिए विवश किया गया। वहीं दूसरी तरफ अब्सेण्टी लैण्ड लार्डिज्म कायम कर दिया। दूर वाला जमीन्दार। यहाँ के लिए यह एक नयी बात थी। जमीन उनके हाथ गयी, जिन्हें खेती से कोई मतलब नहीं था। इनका उद्देश्य कृषि में निवेश का नहीं था। उन्हें सिर्फ लगान से मतलब था। कृषि में निवेश नहीं या बहुत कम होने का दौर प्रारम्भ हुआ, जो कदाचित अब तक जारी है। आजादी के बाद हम तय नहीं कर पाये कि जमीन की मालिकी का प्रश्न हल कैसे होगा? यह एक नीतिगत सवाल था। बेशक 1947 में जमीन्दारी उन्मूलन अधिनियम, 1948 में बिहार जमीन्दारी उन्मूलन अधिनियम, 1950 में भूमि सुधार अधिनियम, 1961 में बिहार भूमि सुधार अधिनियम, अधिकतम सीमा निर्धारण एवँ अधिशेष भूमि अर्जन अधिनियम बना। फिर इसे 1971 एवं 1973 में संशोधित किया गया। भूदान-ग्रामदान कानून भी बना। औद्योगिक भूमि अधिनियम आया। बटाईदारी कानून। परिणाम लाखों की सँख्या में न्यायालय में मुकदमें लम्बित हैं। किसी भी आर्थिक, सामाजिक बदलाव की अपनी गति एवँ समय सीमा होती है। यह राजनीतिक इच्छाशक्ति से होता है और जनमत की तैयारी से। समस्या का समाधान नहीं हुआ तो जाहिर है कि इच्छाशक्ति का अभाव था।

आज व्यवहारत: जमीन का स्वामी कौन है? सच तो यह है कि स्वामी सरकार है। राज्य सरकार है। जिस प्रकार पहले राजा, महाराजा, बादशाह थे। जमीन्दार बीच में स्वामी बने। अनेक रैयतों पर जुल्म की बड़ी कथाएँ कही गयीं। अब भूस्वामी सरकार है। आजादी का सपना था भूमि का पुनर्वितरण जो नहीं हो पाया। मौका हाथ से निकल गया। वातावरण भी बदल गया। आन्दोलनों से, शान्तिमय उपायों से, हिंसा से, करूणा से, कानून से, समस्या का समाधान नहीं आया। आखिर भ्रम कहाँ है? पेंच कहाँ है? आम धारणा है कि जमीन जोतने वाले की हो। यानी प्राइवेट प्रॉपर्टी। आज खेती पूँजी प्रधान है। जोतने वाला ट्रैक्टर का मालिक है। काटने वाला हारभेस्टर का मालिक है। खाद-बीज, मशीन, जुताई, कटाई, फसल की तैयारी, भण्डारण, सब कुछ पूँजी प्रधान। मुनाफे की होड़। इसका मुकाबला तो बड़े लोग हीं कर सकते हैं। बेशक जमीन के हस्तान्तरण का हक छोटे जोतदारों को है। जमीन बड़ी मात्रा में हस्तान्तरित हो रहे हैं।

खेती किसानी का पाँचवाँ संकट भी है कि देश का आज दो चेहरा हमारे सामने है। आर्थिक स्थिति पर देश का पूँजीपति, बुद्धिजीवी और मध्यवर्ग का एक बड़ा तबका सन्तुष्ट है। चीन के बाद दुनिया में दूसरे स्थान पर हम हैं। अमरीका को पीछे छोड़ने पर गर्व है हमको। कम्प्यूटर, अभियान्त्रिकी और सेवा क्षेत्र में हमारी हालत अच्छी है। 8 से 9 प्रतिशत की रफ्तार से सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ रहा है। एफ.डी. आई. भी बढ़ा है। जी.डी.पी. बढ़ा। फारेन एक्सचेंज की हालत भी अच्छी है। देश का एक दूसरा मुखड़ा भी है। 80 प्रतिशत लोगों की आमदनी मात्र बीस रूपये प्रतिदिन है। ये कौन लोग हैं? विषमता बढ़ी है। बेरोजगारी बढ़ी है। महँगाई लगातार बढ़ रही है। इनका जीवन असुरक्षित हो गया है। भारत का असली चेहरा।

दस्तकारों और किसानों की आत्महत्या। भूमि का अधिग्रहण। किसानों, मजदूरों और कारीगरों का शहरों की ओर पलायन। भूख और गरीबी का शोर बढ़ गया है। जनसंख्या की मार ऊपर से। संसाधन की सीमा है। करोड़ों लोगों के पास वासगीत की जमीन नहीं है। जमीन है तो पर्चा नहीं है। पर्चा है तो दखल नहीं। दखल है तो आमदनी नहीं। आमदनी है तो फिजूलखर्ची का जोर। परम्परा के पालन की तबाही ऊपर से।

आधुनिक खेती ने जमीन की उर्वरा शक्ति क्षीण कर दी। बिहार में मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार दूसरी हरित क्रान्ति की बात कर रहे हैं। पता नहीं क्या होगा? कहीं जैविक खेती भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ तो नहीं चली जाएगी? बिहार में अभी कृषि कैबिनेट ने अपनी प्राथमिकता तय की हैं। अनाज, फल, सब्जी, माँस, मछली के उत्पादन पर जोर है। 34 हजार करोड़ रूपये के निवेश की बात हो रही है। खेती को बाजार से, कारखाना के उत्पादन से बचाने का संकेत नहीं है। शहरी आवश्यकता ही उत्पादन केन्द्र में है। वितरण का काम कौन करेगा। कारखाना के उत्पादन का दाम तो कारखाना मालिक तय करते हैं। खेती के उत्पादन का दाम खेतिहर क्यों नहीं करता है? बैंक से कर्ज की आशा की गयी है। वहाँ जो घोर अनाचार है? वन्दोपाध्याय कमेटी के रपट का मामला ठंडे बस्ते में चला गया। 1986 से भूमि अधिग्रहण कानून के सहारे जमीन अधिग्रहण, सेज आदि सवाल तो अलग से खड़ा है। क्या नीतीश जी की कॉरपोरेट फॉर्मिंग औद्योगिक सभ्यता से निजात दिलाने की मंशा है?

बाढ़ और सुखाड़ की मार। पानी का इन्तजाम नहीं। जंगलों का अन्धाधुन्ध विनाश और उद्योग प्रधान सामाजिक वाणिकी की मार। जगह-जगह हिंसा का जोर। औद्योगिक विकास के नाम जमीन हड़पने का होड़। कुल मिलाकर खेती किसानी संकट में है। क्या यह संकट सभ्यता का संकट नहीं है? निश्चय ही संकट आसमानी नहीं है। संकट सुल्तानी है। क्योंकि मौजूदा सभ्यता का महल सुल्तानों ने ही खड़ा किया है। जो सरकार है, बाजार है, सरकार और बाजार का आपस में समझौता है। मुनाफा के लिए कच्चे माल का दोहन करना है। आवश्यकताएँ बढ़ानी है। तब आशा की कोई किरण है? कोई विकल्प है? इस पर विचार करना है। क्या है विकल्प?

प्रख्यात समाजवादी किशन पटनायक ने कहा-विकल्पहीन नहीं है दुनिया। विकल्प विचार था। तौर-तरीके का, मॉडल का खोजा जा सकता है। खेती के संकट के समाधान हेतु खेती की व्यवस्था, उसकी एजेंसी, पद्धति, सोच, प्राथमिकता को बदलना पड़ेगा। उत्पादन, उपभोग, विनियम और वितरण का नया रास्ता क्या हो सकता है? पुरानी बात से सीख सकते हैं, परन्तु लौटना शायद सम्भव नहीं है। लोगों की तैयारी भी नहीं है। हम सब बहुत दूर निकल गये हैं। व्यवस्था का विकल्प क्या है? गाँधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से लौटकर भारत का एक साल दौरा किया। भारत के ग्रामीणों की दुर्दशा देखी। उनके मुँह से वेदनापूर्ण उद्‍गार निकले- ''हमारे गांव पैमाल हो गये हैं, क्योंकि हम सच्चा अर्थशास्त्र एवं सच्चा समाजशास्त्र जानते नहीं हैं।'' उनका यह कथन अँग्रेजों के जमाने में जितना सही था, उससे ज्यादा आजादी के 65 साल बाद गाँवों पर ज्यादा लागू होता है। भारत की ग्रामीण व्यवस्था के बारे में पिछले सौ सालों में काफी शोध हुए हैं और प्रकाशन हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि गाँव के सभी निवासी गाँव की विधानसभा के यानी ग्रामसभा के सदस्य थे। नालन्दा में इन ग्राम सभाओं की विभिन्न मोहरें मिली हैं। जिन्हें लगाकर ग्राम सभाओं ने नालन्दा विद्यापीठ को पत्र भेजे थे। तमिलनाडू में ऐसा ही प्रमाण मिला है। ग्राम सभाओं का उन्नत शासन अँग्रेजी साम्राज्य के पूर्व था। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुराना ग्राम गणराज्य आदर्श रूप था। कमियाँ थीं। जात-पात, ऊँच-नीच, अश्पृश्यता, स्त्रीभेद आदि थे। आजादी के बाद हमने संविधान में ग्राम सभा का जिक्र तक नहीं किया। असल में संविधान सभा के लोगों के मन में गाँवों और नगरों के लोगों की क्षमता के बारे में विश्वास ही नहीं था। मात्र नीति निर्देशक तत्त्व के रूप में ग्राम पंचायत को डाला गया। शायद गाँधीजी का मन रखने के लिए। प्रत्यक्ष में राज्य सरकार ने अपनी योजनाओं को लागू करने के एजेंट के रूप में वर्त्तमान पंचायती राज की व्यवस्था बनायी है। इस पर तफसील से विचार करना होगा। गाँव को स्वशासन की इकाई बनानी होगी। वह छोटा और बड़ा हो सकता है। वर्त्तमान चुनाव पद्धति पर विचार कर स्वशासन के सर्वानुमति की तरफ बढ़ना पड़ेगा। अन्यथा आज का पंचायत तो एजेंट का काम करता है और भ्रष्ट हो चुका है।

गाँव और खेती को संसाधन चाहिए। पहले 10 प्रतिशत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों से केन्द्र लेता था। इसे अँग्रेजों ने उलट दिया। 90 प्रतिशत केन्द्र लेने लगा, जो आज भी जारी है। गाँव की खेती, पशुपालन, खेती आधारित उद्योग, अन्य आवश्यकता आधारित उद्योग गाँव के हाथ देनी चाहिए। चूँकि कोई अधिकार नहीं है। काम नहीं है। इस कारण भी लोग वर्त्तमान ग्राम सभा में जाते नहीं। सुशासन और बात है, स्वशासन दूसरी बात है। हमारा लोकतन्त्र जो संकुचित आधार पर टिका है। उसे व्यापक आधार देने के लिए मतदाताओं को उसके वास स्थान यानी गाँव में स्वशासन की व्यापक सत्ता देनी चाहिए। गाँव की ग्राम सभा को व्यापक विधानसभा की तरह अधिकार दिये बगैर, पंचायत को ग्राम सभा की कार्यपालिका माने बगैर, स्वतन्त्र कर्मचारी वर्ग के बगैर तथा पर्याप्त लचीले आय के स्रोत उन्हें मिले बगैर गाँव के लोग गाँव के शासन में रुचि लेंगे यह आशा करना व्यर्थ है। गाँव वासी जो अनपढ़ हो सकते हैं, अज्ञानी नहीं हैं। इस समझ को लिखा-पढ़ा तबका आत्मसात करे। अर्थात केन्द्रित राजव्यवस्था को विकेन्द्रित करना ही उपाय है। गाँव के करने योग्य तथा गाँव की आवश्यकता को केन्द्र में रखकर हीं खेती किसानी का संकट समाप्त हो सकता है।

आज सारा जनजीवन केन्द्रीय अर्थसत्ता के नागफाँस का शिकार है। आर्थिक दृष्टि से, उत्पादन की दृष्टि से, उपभोग की दृष्टि से। विनिमय और वितरण हर मामले में गाँव शहर पर यानी केन्द्रित अर्थसत्ता पर अब लम्बित हो गया है। इसका विकल्प स्थानीय उत्पादन और स्थानीय खपत नहीं हो सकता है। बुनियादी आवश्यकता की पूर्त्ति प्रारम्भिक उपभोग हो सकता है। खेती के उत्पादन, ग्रामीण उत्पादन और कारखाना के उत्पादन के मूल्य में असन्तुलन करेगा, जिन्हें स्वशासन चाहिए। वर्त्तमान पंचायती राज की ग्राम सभा को आगे आना होगा। अर्थात् गाँव के संकट के समाधान हेतु गाँव को आगे आना होगा।

❑

vkoj.k&dFkk

किसान की जमीन/भूत बंगला

तरसेम गुजराल



भारत में विकास का जो ढाँचा लगातार विकसित और प्रतिष्ठित होता जा रहा है वह पूँजी और मुनाफे पर केन्द्रित है। यह व्यवस्था मानव-श्रम का सम्मान नहीं, उसका शोषण करना चाहती है। शोषण पर आधारित व्यवस्था आखिर कब तक चलेगी?



लेखक हिन्दी के साहित्यकार हैं।
+919463632855

देश के किसी भी शहर किसी भी स्कूल/कॉलेज में पढ़ते बच्चे के साथ यदि किसान जीवन के संकट या किसान की उपेक्षा पर बात करना चाहें तो शायद ही आपको आशाजनक परिणाम मिले। उन्हें लगता है कि देश के विकास की गति में जैसी भूमिका बड़े कारखानों या फैक्ट्रियों की हो सकती है वैसी कृषि पर आधारित समाज की नहीं। हालाँकि उनके पास इस सवाल का जवाब नहीं है कि क्या अन्न का उत्पादन किसी कारखाने में हो सकता है? परन्तु वे टीवी, कम्प्यूटर, मोबाइल इण्टरनेट, वातानुकूलित कमरों के विकास का श्रेय देना चाहते हैं।

भारत की प्रगति की परियोजना पर जिनकी पकड़ है, वे निजीकरण और उदारीकरण के माध्यम से देश के कुदरती स्रोतों और सार्वजानिक सरंचनात्मक संस्थानों को व्यक्तिगत पूँजीवादी घरानों को बेच डालने में जरा भी संकोच नहीं महसूस करते। उस धन की कल्पना नहीं की जा सकती जो राजनीतिक सम्बन्धों और आवाम की आँखों में धूल झोंक कर सम्पन्न वर्ग पैदा कर रहा है और उसका छोटा सा हिस्सा मध्य वर्ग की तरफ फेंक कर मध्यवर्ग की प्रशंसा का पात्र बन जाता है। विज्ञापन की मायावी दुनिया उनके सपनों का आधार बन जाती है और उपभोक्तावाद उन्हें घर-परिवार में अकेला कर देता है। 'समयान्तर' के सम्पादकीय में सवाल उठाया था कि आखिर इतने सारे पूँजीपति स्वयं क्यों संसद में आना चाहते हैं? क्योंकि सत्ता के खेल में सीधे हस्तक्षेप करना चाहते हैं, जैसे-जैसे पूँजी का महत्त्व बढ़ रहा है और निजीकरण व उदारीकरण का विस्तार हो रहा है तथा आपसी प्रतिद्वन्द्विता तेज होती जा रही है, सत्ता को निजी हितों के लिए प्रभावित करना जरूरी होता जा रहा है।

सवाल सिर्फ शहरों में पढ़ रहे युवक-युवतियों का नहीं है। गाँव में भी खेती को उपेक्षा से देखा जा रहा है। छोटी किसानी के लिए खेती का संकट बढ़ता ही जा रहा है। खेती इतनी लाभप्रद नहीं रही कि बढ़ती महँगाई और उपभोक्तावाद की आँधी के कारण बनती चीजों की इच्छाओं के बराबर ठहर सके। नयी पीढ़ी कम्प्यूटर टॉफेल, आईलैट्स या ऐसे प्रशिक्षण प्राप्त कर अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड जैसे देशों की तरफ उड़ जाना जाती है। इसके लिए चाहे खेत बेचने पड़ें

या गिरवी रखने पड़ें। कुछ माता-पिता खुद अँग्रेजी गुलामी की नयी पौध तैयार करने के लिए हर कष्ट उठाने को तैयार हैं। कुछ गाँवों में तो एक पट्टी के दस-बारह घर ही मुश्किल से बचे होंगे, जिनका कोई विदेश नहीं गया। जो बच्चे सीधे तरीकों से विदेश नहीं जा पाते वे पासपोर्ट सलाहकारों, दलालों के चक्कर में फँस कर ज्यादा पैसा खर्च कर नाजायज तरीकों से विदेश जा रहे हैं। न उन्हें माल्टा काण्ड सोचने पर विवश करता है। सपनों का जीवन स्तर, गाड़ी, घर, क्रेडिट कार्ड, बैंक बैलेंस डॉलरों की चमक की तरफ धकेलता है। देश के उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी को कहना पड़ा-देश में आर्थिक उदारीकरण की हवा चलने के बाद बाजारवाद बहुत हावी हो गया है। इसने भारतीय मीडिया संगठनों के गुणसूत्रों (डीएनए) को बदल कर रख दिया है।

जगदीश चन्द्र के उपन्यास 'मुट्ठी भर कांकर' की हिन्दी साहित्य जगत में उतनी चर्चा नहीं हुई, जितनी होनी चाहिए थी। उपन्यास 1976 में छपा परन्तु उपन्यास की कथा 1955 से सम्बन्धित है। उपन्यासकार के अनुसार 'पंजाबी शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए नयी कॉलोनियाँ बनायी जा रही थी, नयी कॉलोनियाँ बसाने के लिए दिल्ली के आसपास के गाँवों की जमीनें' एक्वायर की गयीं। वे लोग एक तरह से अपने ही घरों और गाँवों से विस्थापित हो गये और उनकी पीढ़ियों में बंधी हुई चली आयी जीवन प्रणाली तेजी से टूटने लगी थी।... जमीन एक्वायर हो जाने के बाद इन लोगों को नकद मुआवजा मिला। इससे उनकी निजी आर्थिक व्यवस्था का एकदम मुद्रीकरण हो गया, पुश्तैनी व्यवसाय जमीन एक्वायर होने के साथ ही खत्म हो गये थे। अब वे नयी जीवन प्रणाली के लिए भटक रहे थे। (अपनी ओर से)

उपन्यास का 'ताऊ' चेतावनी देता है-सरकार हमें बरबाद कर देगी, फकीर बना देगी, दर-दर की ठोकरें खाने को लाचार कर देगी... जमीन तो गयी, इज्जत भी जाती रहेगी। मान-मरजाद सब खत्म हो जायेगी। (पृष्ठ संख्या-69)

प्रह्लाद सिंह को जमीन बेचने के एवज में साढ़े दस हजार रुपये मिले। इतनी रकम उसने देखी न थी। उसने साइकिल खरीदी, अपने लिए रेशम के दो कुरते, दो धोतियाँ, पत्नी के लिए घाघरे, चोलियाँ, चुनरियाँ, यानी जो कुछ वह चाहता था, खरीद नहीं पाता था। खरीद लिया।

क्योंकि यह उपन्यास 1955 का किसान समाज दिखा रहा है, तब का ही भूमि अधिग्रहण, तब की ख्वाहिशें। आज विकट स्थितियों में सौ गुना इजाफा हो चुका है। 1955 तक देश भक्ति, प्रेम, बलिदान, त्याग, सद्भाव हरा-भरा था। आज खोजना पड़ता है। धन और सूचना ने मिलकर एक नयी सत्ता वर्चस्व का रूप नहीं धारण किया था जिसकी शक्ति तो असीमित हो परन्तु नियन्त्रण कुछेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ में हो। उदारवादी भूमण्डलीकरण और वैश्विक बाजार के नियन्त्रणाधीन देश की नीतियाँ नहीं चलती थी। स्विस बैंकों में भारतीयों का ग्यारह हजार करोड़ का धन नहीं था। आज जिस किसी सरकारी अधिकारी पर छापा पड़ता है करोड़ों का काला धन मिलता है। भूमाफिया के मुँह पर किसान की जमीन का खून नहीं लगा था। प्रह्लाद सिंह आज जमीन बेच कर लौटता तो उपभोक्तावाद का भँवर उसे अपने भीतर खींच लेता। वह गाड़ी, फ्रिज, नया टीवी, एसी, मोबाइल पर जमीन की रकम का एक बड़ा हिस्सा पानी की तरह बहा देता। 'मुट्ठी भर कांकर' में प्रह्लाद सिंह को जमीन बेचने के बदले में मिले दस हजार पांच सौ रुपये मुट्ठी भर कांकर हैं क्योंकि अब उसके पास काम नहीं है, उसके पास कांकर है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में कहा था-भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।

पिछले पाँच साल में एक लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या कर चुके हैं। पी. साईनाथ ने कहा-हमारा महान देश हरित क्रान्ति के बाद सबसे बड़े कृषि संकट से जूझ रहा है और दुर्भाग्य से कश्मीर से कन्याकुमारी तक की सरकार इस भयानक संकट के प्रति शतुर्मुगी प्रवृत्ति अपनाए हुए है।

पिछले पाँच साल में एक लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या कर चुके हैं। पी. साईनाथ ने कहा-हमारा महान देश हरित क्रान्ति के बाद सबसे बड़े कृषि संकट से जूझ रहा है और दुर्भाग्य से कश्मीर से कन्याकुमारी तक की सरकार इस भयानक संकट के प्रति शतुर्मुगी प्रवृत्ति अपनाए हुए है। क्या आप जानते हैं कि पिछले 10 सालों के दौरान जब टीवी और पत्र-पत्रिकाओं में इण्डिया शाइन हो रहा था, ठीक उसी समय आठ लाख अन्नदाताओं ने किसानी से तौबा कर ली और गाँवों से पलायन कर गये। ये चौंकाने वाले आँकड़े सरकारी हैं। (एन.एस.एस) इतनी बड़ी आबादी के पलायन के बाद भी किसी ने जानने की कोशिश नहीं की इतनी बड़ी आबादी कहाँ गयी।

पाँच सालों में एक लाख किसानों का आत्महत्या करना या फिर आठ लाख अन्नदाताओं का किसानी से ही पलायन कर जाना क्या केवल आँकड़े भर हैं या कि संवेदनशील समाज को झनझना देने वाले खतरे के निशान हैं? मध्यवर्ग किसान की पीड़ा किसान के संकट से क्यों अलहदा या तटस्थ सा होता चला जा रहा है? वह खुद को ऊपर के स्तर पर खड़ा पाता है या पश्चिम के प्रभाव से ग्रस्त है?

क्या मानवीय सम्बन्ध जो समाज संस्कृति का आधार हैं, छीजते चले गये हैं? रमेश उपाध्याय ने मानवीय सम्बन्धों का प्रश्न जब ब्रह्मदेव शर्मा से किया तो उनका उत्तर था-दुनिया में और हमसे देश में भी ऊपर का जो दो या तीन प्रतिशत सम्पन्न वर्ग है, उसने मानवीय सम्बन्ध खत्म कर लिए और अपने कमरों को तरह-तरह के गैजेट्स से भर लिया। वह अपने इन खिलौनों से खेलने लगा और उसने दूसरे के सामने यही आदर्श प्रस्तुत कर दिया। जैसे दुनिया कोई कैसीनो (जुआखाना) है, जिसमें कोई आकर जुआ खेल सकता है। लेकिन इस कैसीनों में ऊपर वाले दो या तीन प्रतिशत लोगों के लिए जीत के अवसर हैं, बाकी लोगों के लिए हार ही हार है। लेकिन मध्यवर्ग इस झूठी उम्मीद में जीता है। इसी साक्षात्कार में कहा कि मध्यवर्ग के ज्यादातर लोग ऊपर की तरफ देखते हैं-सम्पन्नों की तरफ, सत्ताधारियों की तरफ, अमरीका वगैरह की तरफ। नीचे की तरफ, यानी आम गरीब लोगों की तरफ उनमें से कौन देखना चाहता है। (बेहतर दुनिया की तलाश में)

मार्क्स ने बहुत पहले पूँजीवाद पर बड़ी

सटीक टिप्पणी की थी–उत्पादन के तरीकों में बड़े तीखे सुधार करके और संचार की पैदा हुई बेमिसाल सहूलियतों की वजह से पूँजीवाद ने साक्षी यहाँ तक कि सबसे जंगली कौमों को भी अपनी सभ्यता के घेरे में ले लिया है। सस्ते माल से बने भारी तोपखाने से इसने चीनी दीवार भी फाँद ली है और सबसे जिद्दी आदिवासियों की परदेशियों के प्रति घृणा को भी खत्म कर दिया है। इसने खात्मे की पीड़ा सह रही सभी कौमों को उत्पादन के पूँजीवादी ढंग अपनाने के लिए विवश कर दिया है। उन्होंने इसे अपनी तथाकथित 'सभ्यता' अपनाने व खुद पूंजीपति के लिए मजबूर कर दिया है। संक्षेप में उसने अपना ही कल्पित एक विश्व समाज निर्मित कर लिया है।(कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र)

यह कल्पित विश्व समाज निरन्तर बड़ा होता चला गया। धनपतियों के स्वप्न विश्व विजय के स्वप्न हैं। विस्तारवाद के छोटे या बड़े प्रत्येक स्वप्न के लिए जमीन की जरूरत होती है। उनसे बर्दाश्त नहीं होता कि जल–जंगल–जमीन उनके पास न होकर किसान जैसे साधारण व्यक्ति के पास हो। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, राजनीतिक ताकत के मद में पागल लोगों, भूमाफिया, कालोनियों की मुनाफाखोरी में एकाग्र चित पूँजीपति लोग हर दाँव खेलकर जमीन हथियाना चाहते हैं। लाजीगढ़ के कारखाने के पहले चरण के लिए 2008 में एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी को इजाजत मिलती है। व्यावहारिक रूप में उसमें इतनी अनियमितताएँ मिलती हैं कि वह कोई नियम नहीं मानती। गाँव सभा की कई एकड़ जमीन अवैध रूप से घेर लेती है। बिना अनुमति के कारखाने को कई गुना विस्तार देने की योजना पर अमल करती है। डोंगरि, कौंध आदिवासियों का उजड़ना तो लगभग तय है। यह भ्रम भी ना डालो कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उद्योग में आने से बेरोजगारी दूर करने में मदद मिलेगी। खनन की आधुनिक मशीनें लाकर उन्होंने तय कर दिया कि उन्हें ज्यादा आदमियों की जरूरत नहीं। संयमहीन अधिग्रहण सैंकड़ों गाँवों को बण्डल में नहीं बाँधते। लाखों लोगों को बेजमीन कर विस्थापित कर देते हैं। जमीन हथियाने के लिए जिस कानून का हण्टर चलाया जा रहा है वह 1894 का साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी कानून है। वन्दना शिवा ने एक लेख में उन्हें मिले एसएमएस का जिक्र किया। अखबारों में पूरे–पूरे पेज के रंगीन स्वप्न जगाने वाले ऐसे इश्तहार आम हैं:

> नोपडा एक्सप्रेस वे में ग्रीन फार्म हाउस
> नयी दिल्ली से 10 मिनट की दूरी पर
> क्लब, स्विमिंग पूल, क्रिकेट स्टेडियम
> राजकीय बिजलीकरण और सड़कें।

कहा कि किसानों के घर फूंक दिये गये और उन्हें अमीरों के लिए फार्म हाऊस बनाने के लिए गिरा दिया गया। कुलीनों के लिए स्विमिंग पूल और फार्मूला–1 रेस ट्रेक बनाने के लिए यह सब कुछ किया जा रहा है। जमीन प्राप्ति का यह भद्दा, हिंसा, अन्याय पूर्ण ढंग आज के भारत में सबसे ज्यादा जालिमाना भ्रष्टाचार हैं।

हरित क्रान्ति के जरिये मशीनीकरण हुआ साथ ही रसायनीकरण और व्यापारीकरण भी हुआ। उत्पादन पहले से बढ़ा परन्तु अन्ततः सामने दीख रहे परिणामों से नजर चुराना आँखों पर पट्टी बाँधे रखने जैसा है। बड़ा सवाल है कि धरती, पानी और हवा जहरीली क्यों हो गयी?

भारत की खाद्यान को लेकर आत्मनिर्भरता और खोये हुए स्वाभिमान को पाने में पंजाब की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पंजाब की खेती की जब भी बात की गयी है। हरित क्रान्ति की प्रशंसा बड़े सुन्दर शब्दों में की गयी है। हरित क्रान्ति के जरिये मशीनीकरण हुआ साथ ही रसायनीकरण और व्यापारीकरण भी हुआ। उत्पादन पहले से बढ़ा परन्तु अन्ततः सामने दीख रहे परिणामों से नजर चुराना आँखों पर पट्टी बाँधे रखने जैसा है। बड़ा सवाल है कि धरती, पानी और हवा जहरीली क्यों हो गयी? मालवा क्षेत्र से कैंसर ग्रस्त लोगों की तकलीफ इतनी भयंकर है कि एक ट्रेन का नाम ही कैंसर ट्रेन है। हमारे मित्र चिन्तक गुरबचन सिंह कई बार पूछते हैं कि क्या दुनिया भर में किसी ट्रेन का नाम कैंसर ट्रेन है? पंजाब का ऐसा नसीब भला क्यों हो गया? खेती विरासत मिशन जैतों का स्वर अनसुना नहीं किया जा सकता। पिछले कई दशकों से की जा रही रसायनिक खेती ने कुदरती सन्तुलन को इस कदर बिगाड़ दिया कि उस बिगाड़ का प्रभाव किसानों पर स्पष्ट रूप से दीखने लगा है। मिट्टी का स्वास्थ्य और उपज क्षमता बेहद कम हो गयी है। खेती का कुदरती सन्तुलन जिसमें केंचुए, मित्र कीट, पक्षी और तरह–तरह के पौधे जहरीले रसायनों द्वारा तबाह कर दिये हैं। पानी के स्रोत जहर से लबालब हैं। धरती के नीचे का पानी खत्म होने की कगार पर है जिससे पंजाब के बड़े क्षेत्र को काला क्षेत्र घोषित कर दिया गया है।

सूत्रों के अनुसार पंजाब देश भर में उपयोग में लाये जाते कीटनाशकों का 17 प्रतिशत इस्तेमाल करता है और कीटनाशक दवाओं का 0.01 प्रतिशत ही कीट तक पहुँचता है। बाकी का 99.99 हिस्सा पूरे भूमण्डलीय वातावरण में शामिल हो जाता है।

क्योंकि पूरे भारत में विकास को लेकर पूरा ढाँचा पूँजी केन्द्रित मुनाफाखोर और अव्यवस्थित ढाँचा है जो मनुष्य केन्द्रित न होकर अन्याय आधारित और ऊँच नीच के अन्तर को बढ़ाने वाला है इसलिए इसमें किसान मजदूर तथा सामान्य जन की मुसीबतों को संवेदना के स्तर पर नहीं देखा समझा जा रहा। दशकों से उपेक्षा की मार झेलता किसान जबरदस्त विपदा में है। भारत में बड़ी संख्या में किसान खेती के आधार पर बरसों से जी रहे हैं परन्तु उनकी मुसीबतों का कहीं अन्त नजर नहीं आ रहा। सरकार सब्सिडी का शोर जरूर मचाती है परन्तु उसका लाभ छोटे किसान को या तो पहुँचता ही नहीं या वह इतना आधा–अधूरा होता है कि हालात बेहतर करने में असमर्थ रहता है इसलिए इसका लाभ राजनीतिक पार्टियाँ घोषणा–पत्रों में ही उठाती हैं और इस आड़ में न्यायप्रियता का, उदारता का, आदर्श का चेहरा बनाये रहती हैं। छोटे और मध्यम किसान की जमीन और जीवन दोनों खतरे में हैं। उन पर पूरे समाज की सहानुभूति पूर्ण चिन्ता जरूर है। गरीबी की परिभाषा के मानकों को बदलने से कुछ नहीं होगा। जल–जंगल–जमीन पर आवाम को फैसलाकुन होने और कुदरत के बचाने के लिए मुहिम छेड़नी होगी। क्योंकि यह संकट अब जीवन का संकट बन चुका है।

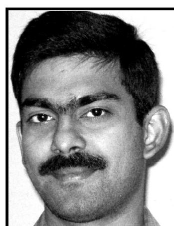
❑

गिरफ्त में कृषि और किसान

अवनीन्द्र नाथ ठाकुर



पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने कृषि एवं उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में ऋणों के आवंटन में तेजी की है। किसानों की आत्महत्याओं को ध्यान में रखते हुए ऋणों की माफी भी हुई है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि इन नीतियों का लाभ छोटे और सीमान्त किसानों को नहीं मिलता।



लेखक जेएनयू, नई दिल्ली में शोधार्थी हैं।
avanindra.cesp@gmail.com
+919871161069

भारत में पिछले कुछ दशकों में अर्थव्यवस्था की संरचना एवं स्वरूप में काफी परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कृषि की देश के कुल सकल घरेलू उत्पाद में सापेक्षित योगदान में कमी रहा है। इस स्तर पर अगर राष्ट्रीय आय की नजर से पूरी अर्थव्यवस्था पर नजर डाली जाए तो कृषि एवम् सम्बन्धित क्षेत्र का महत्त्व लगातार घटता प्रतीत होता है। जहाँ आजादी के उपरान्त कृषि एवम् सम्बन्धित क्षेत्र का कुल घरेलू सकल उत्पाद में योगदान आधे से भी अधिक था वहीं यह योगदान सिमटकर पन्द्रह प्रतिशत के आसपास ही रह गया है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि कृषि की महत्ता को सिर्फ उसके कुल राष्ट्रीय आय में योगदान के रूप में आँका जा सकता है? इसका उत्तर नि:सन्देह तौर पर नकारात्मक होगा क्योकि आज भी देश की दो तिहाई आबादी कृषि एवम् सम्बन्धित क्षेत्र पर किसी न किसी तरह अपने जीवन यापन के लिए आधारित है और देश के आधे से भी अधिक श्रमिक सीधे तौर पर अपना रोजगार इस क्षेत्र से प्राप्त करते हैं। जिस देश में रोजगार की उपलब्धता एक बड़ी चुनौती के रूप में काम करता हो वहाँ रोजगार के सबसे बड़े साधन के महत्त्व को किसी और प्रमाण की जरुरत नहीं है। देश की दो तिहाई जनसँख्या को सीधे रूप में प्रभावित करने वाली कृषि नीति को अगर सरकारी नीतियों में सर्वोत्तम प्राथमिकता देना किसी भी तरह तर्क से परे नजर नहीं आती। लेकिन क्या भारत की आर्थिक नीतियों में चाहे सरकार किसी की भी हो क्या कृषि को उसकी महत्ता के उपयुक्त स्थान मिल पाया है? अगर हम नव उदारवादी नीतियों की शुरुआत एवं उसके विस्तार की अवधि अर्थात 1991 से अब तक की तमाम तरह की आर्थिक गतिविधियों पर नजर डालें तो कृषि की सरकारी नीतियों में उपेक्षा सर्वविदित है।

इसमें शक कि गुंजाइश कम ही है कि नव उदारवादी नीतियों का सबसे बड़ा दुष्परिणाम भारत में कृषि क्षेत्र को भुगतना पड़ा है। नव उदारवादी नीतियों के अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप, बाजारोन्मुखी उत्पादन की अधिकता, कृषि एवं

सहयोगी क्षेत्रों में सब्सिडी में भारी कटौती, कृषि एवम् कुटीर उद्योगों और खासकर एक बड़े तथा कमजोर वर्गों को आवंटित होने वाली सरकारी कर्जे में कमी इत्यादि काफी स्पष्ट रूप से विगत वर्षों में परिलक्षित हुए हैं। नवउदारवादी समय में सरकारी गतिविधियों के संकुचन की आर्थिक नीतियों के कारण कृषि में सरकारी निवेश की जबरदस्त कमी आयी जिसके कारण कृषि की लोगों को रोजगार देने की क्षमता में इतनी गिरावट आयी कि 90 के दशक में इस क्षेत्र ने कुछ भी नया रोजगार उपलब्ध नहीं कराया। इसके साथ ही साथ इस दशक में किसानों की खरीददारी की क्षमता भी काफी कम हो गयी। अगर बात कृषि में दी जाने वाले ऋणों की करें तो प्राथमिकता क्षेत्र के परिभाषा में ही परिवर्तन कर दिया गया तथा पेप्सी, केलोग्स, हिन्दुस्तान लीवर इत्यादि को भी प्राथमिकता क्षेत्र में ले आया गया। इसके परिणाम स्वरूप कृषि को आवंटित होने वाले ऋण पूरे देश स्तर पर कुल ऋणों की तुलना में 90 के दशक में पिछले दशक से आधे ही रह गये। इन सारी घटनाओं का नकारात्मक प्रभाव देश के कमजोर वर्गों के सामने एक बड़ी चुनौती के रूप में प्रस्तुत हुआ। इसके साथ ही साथ कृषि क्षेत्र में लगातार घटती सरकारी निवेश एवम् अन्तर्राष्ट्रीय खुले बाजार के अन्तर्गत विभिन्न कृषि उत्पादों जैसे कि कपास, गेहूँ, सरसों इत्यादि के मूल्यों में भरी गिरावट ने किसानों की हालत को पूरे देश में नाजुक स्तर पर ला खड़ा किया था। इसका जीवन्त उदहारण लाखों की संख्या में किसानों की आत्महत्याओं की श्रृंखला हैं। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस विवेचना का मुख्य आधार पूरे कृषि क्षेत्र की समस्या है न कि किसानों की दयनीयता का विश्लेषण जो अपने आप में एक गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण मुद्दा है।

नव उदारवादी युग में विपरीत नीतियों के परिपालन से कृषि सम्बन्धित कई सारे मापदण्डों में गिरावट लगभग अवश्यम्भावी ही हो गया था। प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता जो 1991 में 468.5 ग्राम थी घटकर 2008 में सिर्फ 394.2 ग्राम ही रह गयी। आज के समय में जहा देश की जनसंख्या का अधिकतर भाग कम उम्र के लोगों का है वहाँ इस तरह की गिरावट देश के स्वस्थ्य एवं सक्षम भविष्य पर ही एक प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। इसके अतिरिक्त यदि अनाज की उत्पादकता में वृद्धि की दर की बात करें तो कृषि में सरकारी निवेश में लगातार कमी के इस माहौल में कुछ भी सकारात्मक उम्मीद करना व्यर्थ है।

1981 से 1991 तक की अवधि के बीच कुल अनाज की उत्पादकता में 35 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जो 1991 से 2001 के बीच घटकर 17.8 प्रतिशत हो गयी। और 2001 से 2010 तक यह वृद्धि दर सिर्फ 10.6 प्रतिशत तक ही रह गयी अर्थात प्रति वर्ष यह वृद्धि दर सिर्फ एक प्रतिशत के आसपास ही रह गयी। उत्पादकता में वृद्धि की इस लगातार घटती दर देश के लिए उतनी घातक नहीं होती अगर कृषि योग्य भूमि का विस्तार सम्भव होता। लेकिन वास्तविक स्थिति तो इससे कहीं ज्यादा असन्तोषजनक है। आजादी के उपरान्त तथा हरित क्रान्ति की शुरुआत तक की समयावधि में कृषि के अन्तर्गत आने वाली भूमि में लगभग तीन प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर्ज की गयी जबकि 1965 से 1980 तक विस्तार की इस दर में लगभग आधे की गिरावट हुई लेकिन 1980 से 2009-10 तक कुल कृषि कार्य के उपयोग में आने वाली भूमि के प्रत्यक्ष गिरावट दर्ज की गयी और यह परिवर्तन निःसन्देह एक चिन्तनीय अवस्था का द्योतक है। भविष्य में भी बढ़ते शहरीकरण, जनसंख्या वृद्धि की दर में असन्तोषजनक गिरावट और साथ ही साथ ओद्योगीकरण के सेज मॉडल के प्रभाव से यह तो स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होता है कि आने वाले समय में कृषि से सम्बद्ध भूमि की मात्रा में गिरावट की दर में भारी वृद्धि की सम्भावना है। अगर आँकड़ों पर नजर डालें तो पिछले बीस सालों में कुल अनाज के उत्पादन के लिए उपयोग में आने वाली भूमि के क्षेत्रफल में लगभग 65 लाख हेक्टेयर की कमी आयी है। इस गिरावट में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान धान, ज्वार, बाजरा, तथा दलहन आदि की फसलों का रहा है। इसके अतिरिक्त एक आँकड़े के अनुसार देश के लगभग 40 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि किसी न किसी रूप में क्षय का शिकार हो रही है जिसका मुख्य कारण अत्यधिक रासायनिक उर्वरकों का उपयोग तथा लगातार पानी के जमने की अवस्था इत्यादि है। देश के पश्चिमोत्तर भाग जो आज भी देश के अनाज उत्पादन का केन्द्र माना जाता है, इस तरह की समस्या से सबसे ज्यादा पीड़ित है। कृषि योग्य भूमि की उपलब्धता में लगातार कमी, फसलों की उत्पादकता के वृद्धि की दर में लगातार गिरावट, जनसंख्या में वृद्धि की दर इत्यादि ने देश के नीति निर्धारकों के सामने एक बहुत बडी चुनौती रख छोड़ी है जो उपयुक्त निदान के अभाव में, भविष्य में, परिस्थितियों को और भी गम्भीर बनाने की क्षमता रखता है। खाद्य पदार्थो की मांग एवम् पूर्ति में असामंजस्य ने वर्तमान समय में ही स्थिति को चिन्तनीय बना दिया है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण खाद्य सम्बन्धित मुद्रा स्फीति में असाधारण वृद्धि है। अनेक मुद्रा सम्बन्धित नीतियों के परिवर्तन तथा अन्य उपायों के बावजूद भारतीय रिजर्व बैंक मुद्रा स्फीति की इस दर को दो अंकों से नीचे करने में असमर्थ रहा है। खाद्य पदार्थो के मूल्यों में इस तरह की लगातार वृद्धि भारत के विशाल माध्यम तथा निम्न वर्गो के लिए एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आयी है जो अपने आप में सरकार के लिए एक बड़ी चुनौती एवम् समस्या है।

कृषि क्षेत्र में लगातार घटती सरकारी निवेश एवम् अन्तर्राष्ट्रीय खुले बाजार के अन्तर्गत विभिन्न कृषि उत्पादों जैसे कि कपास, गेहूँ, सरसों इत्यादि के मूल्यों में भरी गिरावट ने किसानों की हालत को पूरे देश में नाजुक स्तर पर ला खड़ा किया था।

हालांकि संयुक्त प्रगितिशील गठबन्धन की दूसरी सरकार ने इस क्षेत्र के विकास को प्राथमिकता देने की बात शुरू से ही स्पष्ट कर दी थी। पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा

में कुछ महत्त्वपूर्ण कदम भी उठाये गये जिनमे सबसे प्रमुख कृषि एवम् उसके सहयोगी क्षेत्रों में ऋणों के आवंटन में तेजी तथा बड़ी सँख्या में किसानों की आत्महत्याओं को ध्यान में रखते हुए उनके पुराने ऋणों की माफी की प्रक्रिया की भी शुरुआत इत्यादि है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इन कदमों का काफी सकारात्मक प्रभाव किसानों की गिरती हुई आर्थिक दशा पर पड़ा लेकिन ये कदम भारतीय कृषि की जर्जर होती अवस्था को सुदृढ़ करने के लिए पर्याप्त नहीं था। कृषि में आवंटित ऋणों की मात्रा में तो वृद्धि हो गयी लेकिन सीमान्त एवम् लघु किसानों तक यह ऋण पूरी तरह से नहीं पहुँच सके। सरकार कमजोर वर्गों के ऋणों में आवंटन के लिए पर्याप्त प्रावधान नहीं कर सकी। सरकार का पूरा उद्देश्य मनोवांछित आँकड़ों की पूर्ति में ही पूरा होता देखा गया। कई जगह से यह भी सामने आया है कि आवंटित ऋणों की बड़ी मात्रा कृषि से इतर किसी और क्षेत्र में प्रयोग में लाया गया। इसके अतिरिक्त इस अवधि में सरकारी निवेश में भी वृद्धि परिलक्षित हुई है। लेकिन अगर इन निवेशों को देश के कुल सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के तौर पर देखा जाए तो इस दौरान भी कृषि में निवेश सकल घरेलू उत्पाद का तीन प्रतिशत के आसपास ही रह पाया अर्थात कृषि में सरकारी निवेश की कोई सापेक्षिक वृद्धि इस दौरान भी नहीं देखी गयी। कुछ महत्त्वपूर्ण योजनाओं की शुरुआत इस दौरान की गयी जिसमें से प्रमुख राष्ट्रीय कृषि विकास योजना तथा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन है। पहली योजना का उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में आधारभूत संरचना में विस्तार तथा दूसरी योजना का उद्देश्य धान गेहूँ एवम् दलहन की उत्पादकता में वृद्धि है। लेकिन इन सभी योजनाओं की अपनी सीमाएँ हैं। पहली बात तो ये है कि जितनी राशि इन सब योजनाओं के अन्तर्गत आवंटित की जानी चाहिए उससे कहीं कम का आवंटन किया गया है। दूसरी समस्या यह है कि कृषि के विकास की कोई भी सुदृढ़ दीर्घकालिक योजना एवम् दिशा निर्देशों का अभाव है जिससे इस क्षेत्र के विकास की सर्वकालिक रुपरेखा का निर्माण निचले स्तर पर नहीं हो पाया है। तीसरी समस्या यह है कि इन सारी योजनाओं में केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों के विकास प्रक्रिया पर अनुदान का प्रावधान है और आज भी ज्यादातर राज्यों के पास कृषि विकास के लिए कोई दीर्घकालिक एवम् वैज्ञानिक प्रारूप मौजूद नहीं है। शायद इन्ही सब सीमाओं के कारण पिछले कई सालों से इस नीतियों के परिपालन के बावजूद कृषि की हालत में मनोवांछित सुधार देखने को नहीं मिल रहा है।

आज के इस दौर में अगर इन सारे तथ्यों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करें तो कुछ जरूरतें साफ तौर पर सामने आती हैं। पहली जरुरत जो एक अनिवार्यता के रूप में परिलक्षित होती है वह कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश की भारी मात्रा में वृद्धि है जहाँ तक निवेश के प्रारूप की बात है वहाँ सिंचाई के साधनों का विकास सबसे प्रमुख है। आज भी देश के लगभग 44 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि सिंचाई के स्थाई श्रोत से वंचित है। जहाँ तक उत्पादकता का सवाल है सिंचित और असिंचित भूमि में इसका अन्तर लगभग दोगुने से भी अधिक का है। इस आधार पर सिंचाई का समुचित विकास ही अपने आप में उत्पादकता में वृद्धि का सबसे बड़ा श्रोत है। दूसरी जरूरत कृषि उत्पादों की तैयारी के बाद उसके समुचित संरक्षण की व्यवस्था का विस्तार है। एक आँकडे के अनुसार कुल उत्पादों का लगभग छठा हिस्सा सिर्फ उसके उचित संरक्षण के अभाव में नष्ट हो जाता है। तीसरी जरूरत यह है कि कृषि सम्बन्धित शोध पर अधिक से अधिक खर्च किया जाए जो अभी कुल सकल घरेलू उत्पाद के एक प्रतिशत से भी कम है। खासकर सबसे ज्यादा जरूरत यह है कि देश के एक विशाल सूखे क्षेत्र के लिए उपयुक्त फसलों के विकास की ओर शोध का ज्यादा ध्यान दिया जाए। कृषि योग्य भूमियों की क्षय तथा लगातार गिरती उर्वरा शक्ति के बचाव के लिए पूरे देश के स्तर पर मिट्टी की सही जाँच तथा उसके उपरान्त उसका समुचित उपचार पूरे देश के स्तर पर एक अपरिहार्य कदम है। खासकर पश्चिमोत्तर भारत के लिए यह एक अनिवार्य आवश्यकता है। साथ ही साथ यह माना गया है कि इस क्षेत्र में निजी निवेश का सरकारी निवेश के साथ सीधा सम्बन्ध है। इसलिए बाकि क्षेत्रों की तरह सरकारी निवेश के बदले निजी क्षेत्र के निवेश की बात ध्यान में रखना नीतियों की व्यावहारिकता नहीं दर्शाती। इसलिए अगर सरकार इस क्षेत्र में निजी निवेश चाहती है तो पहली शुरुआत सरकारी निवेश की व्यापक वृद्धि से करनी होगी। साथ ही साथ किसानों को आवंटित होने वाली ऋणों में भारी वृद्धि की जरुरत है जिससे पूँजी के अभाव में भी लघु एवम् सीमान्त किसान भी यथोचित निवेश की व्यवस्था कर सके। लेकिन इस सभी कदमों से पहले सबसे जरुरी बात यह है कि सरकार अपनी नीतियों में कृषि को दोयम दर्जे पर रखने वाली मानसिकता से बाज आये। आज कृषि की योग्यता उससे होने वाली आय से नहीं बल्कि इससे देखा जाए सिर्फ एक क्षेत्र के विकास से देश की दो तिहाई जनसंख्या का विकास सम्भव है। इस परिप्रेक्ष्य में कृषि का सरकारी नीतियों में तथा विभिन्न योजनाओं में आवंटनों का हिस्सा उस पर आधारित लोगों की संख्या तथा उनकी स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। लेकिन यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछले दो दशकों में चाहे सरकारें कितनी भी बदली हों कृषि क्षेत्र को उसका समुचित स्थान नहीं प्रदान किया गया और देश की दो तिहाई जनता को उसके भाग्य पर छोड़ना ही देश की अर्थव्यवस्था की नियति बन गयी है।

❑

जरुरी बात यह है कि सरकार अपनी नीतियों में कृषि को दोयम दर्जे पर रखने वाली मानसिकता से बाज आये। आज कृषि की योग्यता उससे होने वाली आय से नहीं बल्कि इससे देखा जाए सिर्फ एक क्षेत्र के विकास से देश की दो तिहाई जनसंख्या का विकास सम्भव है।

मास्टरप्लान में पिसता किसान-मजदूर

अनूप बहुजन

मनमोहन सिंह के वित्त मंत्री से लेकर प्रधानमंत्री बनने तक के सफर में भारत में 'निओ-मिडिल क्लास' का उदय हुआ है, इस उदारीकरण के दौर में भारत में विदेशी पूँजी निवेश का अविरत प्रवाह हुआ है। देश में अनेकानेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों का भी आगमन होता है, इसने देश के बाजार के साथ-साथ संस्कृति और जीवन-मूल्य भी प्रभावित किया।



देश में ढांचागत विकास की आन्धी चल रही है। हमारे वित्त मन्त्री के अनुसार देश की आर्थिक विकास दर 9 प्रतिशत के आस-पास है और उसमें सेवा क्षेत्र तथा ढांचागत विकास का आधे से ज्यादा योगदान है। आज संसद से लेकर सड़क तक अत्याधुनिक मॉल, शौपिंग काम्प्लेक्स, विश्व स्तरीय टाउन विकसित किये जा रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपना प्लांट लगाने के लिए तो जल-जंगल-जमीन सब चाहिए। लेकिन अब इसके लिए जमीन कम पड़ रही है। अब सरकार तथा बिल्डर्स किसानो से जमीन बेचने के लिए तथा मजदूरों से अपने आशियाने खाली करने को कह रही है, किसान जहाँ संगठित है वहां इसका विरोध कर रहे है नहीं तो चुपचाप औने पौने दाम पर जमीन बेचकर पलायन कर रहे है। ऐसा भी होता है कि झुग्गी-झोपड़ी-गरीब-आदिवासी की बस्ती अचानक बुलडोजर तले रौंद दी जाती है। लोग जब पूछते है कि हमें तो नोटिस मिला ही नहीं तो तपाक से उन्हें एक कागज दिखा दिया जाता है कि आपका मकान 'मास्टरप्लान' में आता है।

मनमोहन सिंह के वित्त मंत्री से लेकर प्रधानमंत्री बनने तक के सफर में भारत में 'निओ-मिडिल क्लास' का उदय हुआ है, इस उदारीकरण के दौर में भारत में विदेशी पूँजी निवेश का अविरत प्रवाह हुआ है। देश में अनेकानेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों का भी आगमन होता है, इसने देश के बाजार के साथ-साथ संस्कृति और जीवन-मूल्य भी प्रभावित किया।

मनमोहन सिंह के वित्तमंत्री से प्रधानमंत्री बनने के दौरान देश के आर्थिक ढांचे में एक नव-उदारवादी परिवर्तन आया, साथ ही साथ सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं रहे। हमें यहाँ पर ध्यान देना होगा कि 1990 का दशक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय बदलाव के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। सोवियत रूस के पतन के साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका का नव-उपनिवेशवाद का खेल शुरू हो जाता है और टेक्नोलाजी और बाजार के माध्यम से विकासशील देशों में आर्थिक साम्राज्यवाद की प्रभुता स्थापित करने की कामयाब कोशिशें करता है। ठीक उसी समय देश में सामाजिक न्याय के आन्दोलन का उभार होता है जिससे देश के शैक्षणिक संस्थानों के साथ सार्वजानिक क्षेत्र में वर्गीय प्रतिनिधित्व की मांग उठती है, भारी जन दबाव के चलते तत्कालीन सरकार



लेखक अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान जेएनयू नई दिल्ली में शोधार्थी हैं।
anoops.patel@gmail.com
+91999927787

आरक्षण की मांग को स्वीकार तो कर लेती है लेकिन पिछले दरवाजे से सरकारी उद्योग-समूहों का निजीकरण की प्रक्रिया को स्वयं शह देती है और 2010 के आते-आते कुछ पब्लिक सेक्टर्स को छोड़कर सभी को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खुला छोड़ देती है। जिससे समाज के एक बड़े तबको को आधुनिकीकरण और आद्योगिकीकरण का कोई लाभ नहीं मिलता साथ ही साथ कुटीर उद्योग तथा छोटी पूँजी वाले उपक्रमों का सफाया हो जाता है यानी देश के आर्थिक क्षेत्र की बड़ी मछलियाँ ही ग्लोबल मछलियों के सामने टिकी। इस अवधि में जो जातीय तथा परंपरागत व्यवसाय थे उनका खात्मा हो गया और इनकी जगह कम लागत में भारी मात्रा में उत्पादित तथा आयातित वस्तुओं से भर दिया गया, नतीजा यह हुआ कि बाजारवाद का प्रभुत्व तो शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव तक पहुँच गयी लेकिन इससे जिन तबकों का रोजगार छिना वे शहर की तरफ पलायन कर गये या फिर खेतिहर मजदूर के रूप में अपनी जीविका चलाने की कोशिस की। और अब सरकार को तथा अमीरों को वही जमीन चाहिए जहाँ वे खेती कर रहे है या फिर जहाँ वे रह रहे हैं।

और इस अंधाधुंध विकास का साइड इफेक्ट सबसे ज्यादा आदिवासियों के ऊपर पड़ा, जो अ-हिन्दू है, जिनकी संस्कृति, व्यवहार, जीवन-वृत्ति प्रकृति के इर्द-गिर्द ही सिमटी है। आज सबसे ज्यादा विस्थापन आदिवासियों का हुआ है। योजना आयोग (2001) के अनुसार 1951-90 के दौरान 21,3 लाख विस्थापित हैं, जिनमें से 40, फीसदी आदिवासी हैं और अभी भी उनके पुनर्वास के लिए कोई व्यापक नीति नहीं तैयार की गयी है । भारत सरकार आज की बदली हुई परिस्थितियों के बावजूद 1894 का भूमि अधिग्रहण एक्ट की सिफारिशों को अमल में लाती है। सरकारी अमला आज तक यह महसूस नहीं कर पाया है कि अपनी जमीन से विस्थापित होना आदिवासियों के लिए सबसे बड़ी समस्या है। और इसका मुआवजा सिर्फ कुछ नोटों के बण्डल नहीं हो सकते।

आज सरकार की नीतियों और योजनाओ में जिस वर्ग के बारें में सबसे ज्यादा सोचा जाता है वह है मध्यम वर्ग। सोचेगी क्यों न, सरकार को इसी वर्ग से सर्वाधिक टैक्स भी मिलता है। सरकारें स्वयं इस वर्ग की हितपूर्ति के लिए आगे आती हैं। सरकारें भूमि अधिग्रहण के लिए नोटिस जारी करती हैं किसानों-मजदूरों पर दबाव डालती हैं। सरकार साम-दाम-भेद के द्वारा अपनी स्कीम को सफल बनाती है और अन्त में दंड का भी प्रयोग करती है। उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम बंगाल तक सरकार की दंडात्मक कार्यवाही जारी है।

किसानों को उचित मुवावजा दिए बगैर उनकी जमीन वही सरकार छीन रही है जिसको इसलिए बहुमत दिया गया कि ये हमारे लिए कुछ बेहतर काम करेगी। सरकार भी एक सेमी-पेरिफरी की तरह काम करेगी क्योंकि कोर यानी नव-धनाढ्य वर्ग है उसे जो चाहिए सरकारें जनता से छीनकर उनके हवाले कर देगी। अब सरकारों की सम्प्रभुता खतरें में पड़ गयी है क्योंकि रिमोट कंट्रोल कही और है, खनिज सम्पदा से भरपूर राज्यों में आम जनता की हालत सबसे बदतर है जबकि होना यह चाहिए था कि सबसे ज्यादा आम आदमी-आदिवासी लाभान्वित हो। लेकिन वहाँ की सरकारों का सरोकार जनता से नहीं जल-जमीन-जंगल लूटने वाली पोस्को तथा वेदान्ता जैसी कम्पनियों से है। यानी रिमोट कंट्रोल फोर्ब्स लिस्ट में शामिल देश के सज्जनों के पास चला गया है। ये सज्जन ही आज देश की योजनाओं, अर्थव्यवस्था में कोर की भूमिका निभा रहे हैं। इनकी अपनी एक अलग जमात है और उनके चाहने वाले भी है। इन्ही सब के लिए मास्टरप्लान तैयार किया जाता हैं।

आज जब सत्ताधारी नस्ल तथा प्रभु वर्ग का हित एक हो गया है और अपने मास्टरप्लान के तहत गरीब जनता का शोषण कर रहे हैं ऐसे में शोषित के पास क्या विकल्प बचते हैं?

देश में संवैधानिक व्यवस्था के तहत प्रतिनिधियों को चुनने का हक है उन्हें वापस बुलाने का नहीं। कहने को विश्व का सबसे बड़ा संविधान अपने भारत का है लेकिन विश्व की सर्वाधिक गरीब जनता के लिए यह अबूझ पहेली के सामान है जहाँ संविधान को जनहित का स्वर्गद्वार होना चाहिए ऐसा न होकर यह वकीलों के लिए स्वर्ग बना हुआ है। देश के संविधान वेत्ताओं और बौद्धिक वर्ग को यह प्रयास करना चाहिए कि इसका छोटा, सहज और सरल भाषा में ऐसा प्रारूप उपलब्ध हो जिसे हर व्यक्ति पढ़ सके और समझ सके। इसके आलावा vote to recall की मांग उठाये और इसके लिए यदि आवश्यकता हो तो देशव्यापी आन्दोलन का संचालन करें। लोगो को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करना पड़ेगा। जमीन अधिग्रहण को एक देशव्यापी मुद्दा बनाना होगा।

हमें इस पर भी विचार करना होगा कि आज जिस उपजाऊ जमीन पर मास्टरप्लान के तहत ओवरब्रिज, हाइवे, मॉल, टाउन विकसित हो रहे हैं उससे देश के नव धनाढ्य के ग्लोबल लालच की शायद ही पूर्ती हो पाए लेकिन इस एवज में जो जमीन हम खोएंगे वह कभी नहीं मिल सकेगी। .... के अनुसार देश में उर्वर जमीन 558,080 फुट है और हमारी आबादी सवा अरब के आस-पास। कई सालों से हम खाद्यान्न संकट से जूझ रहे है और बाहर से भी खाद्य आयात करना पड़ रहा है ऐसे में ढांचागत विकास की नीति के बारे में पुनर्विचार करना होगा। यदि दो जून की रोटी भी नहीं जुटा पा रहे हैं तो ऐसा विकास किस काम का।

साथ ही सामाजिक न्याय के पैरोकारों को सड़क से लेकर संसद तक का मार्च करना पड़ेगा। आज देश को यह जरूरत आ पड़ी है कि वे सामन्तवाद-बाजारवाद- सत्ताधारीवर्ग के कार्टेल के खिलाफ अपने जनान्दोलन को एक नयी गति दे, उनके मास्टरप्लान को धवस्त कर दे। आज युवा वर्ग को यह जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लेनी पड़ेगी कि चुनाव पद्धति से लेकर सरकार बनाने की परिधि में शामिल होकर इस देश को एक नयी दिशा और दशा दे। आज संसद को भी सामाजिक न्याय तथा समतामूलक समाज के प्रति समर्पित युवाओं की जरूरत है न कि राजनैतिक परिवारों के युवराजों की।

आज बाबाओं और महात्माओं द्वारा भ्रष्टाचार रोकने हेतु नए तरीके से प्रयास हो रहे हैं लेकिन इसकी जड़ों पर प्रहार ये साधू महात्मा नहीं करेंगे क्योंकि इनके आभामंडल और कमंडल का प्रभाव नव धनाढ्य वर्ग में ही रहता है, ये प्रभु वर्ग के मास्टररोल के सिर्फ नट-बोल्ट हैं। किसान-मजदूर के खेत, रोटी कपडा और मकान से इनका दूर-दूर तक कोई नाता नहीं है। उनका यह प्रयास हमारी संवैधानिक व्यवस्था के महत्त्व को नगण्य कर देगी। इस देश की व्यवस्था में बदलाव जनान्दोलन के द्वारा ही होगा यही अंतिम विकल्प है, हथियारबन्द आन्दोलन का हस्र हम देख ही चुके हैं।

❑

0;k[;ku

मीडिया, मुद्दे और उत्तरदायित्व

मार्कण्डेय काट्जू



यह व्याख्यान 'भारतीय प्रेस परिषद' के नये अध्यक्ष न्यायमूर्ति (सेवानिवृत्त) मार्कण्डेय काटजू द्वारा 10 अक्टूबर को अपने निवास पर मीडियाकर्मियों को दिये भाषण का संपादित रूप है और प्रतिष्ठित अंग्रेजी दैनिक 'द हिन्दू' के 22 अक्टूबर अंक से साभार लिया गया है। मीडिया के आदर्श को सम्बोधित इस व्याख्यान में उन्होंने भारतीयता में विश्वास व्यक्त करते हुए भारतीय मीडिया के कुछ प्रमुख दोषों को उजागर किया है और बताया है कि लोकतांत्रिक रूप से उसे सही क्यों होना चाहिए? और यह भी कि अगर मीडिया की कार्यप्रणाली में सुधार नहीं आता है तो उसके लिए कठोर उपाय भी किए जा सकते है।



अब भारतीय मीडिया के आत्मान्वेषण की आवश्यकता का समय आ गया है। कई लोगों ने, केवल सत्ता पक्ष से जुड़े लोगों ने ही नहीं बल्कि आम लोगों ने भी अब यह कहना शुरू कर दिया है कि हमारा मीडिया गैर-जिम्मेदार और स्वच्छन्द हो गया हैं इसलिए उस पर अंकुश लगाए जाने की जरूरत है। कुछ दिन पहले मैंने अखबारों में पढ़ा कि केन्द्र सरकार ने समाचार चैनलों के लिए लाइसेंस सम्बन्धी कुछ नियम जारी किये हैं, जिसपर बहुत सारी प्रतिक्रियाएं भी हुईं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) के अन्तर्गत मीडिया की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का ही एक हिस्सा है। लेकिन कोई भी स्वतन्त्रता असीमित नहीं हो सकती और उस पर उचित प्रतिबन्ध भी लगाए जा सकते हैं। मीडिया का एक बुनियादी कार्य लोगों को सच्ची और वस्तुनिष्ठ (उद्देश्यपूर्ण) जानकारी देना है ताकि लोग सही और तर्कसंगत राय बनाने में सक्षम हो। यह स्वस्थ लोकतन्त्र की एक अनिवार्य शर्त भी है। लेकिन भारतीय मीडिया अपनी इस भूमिका का निर्वहन ठीक ढंग से नहीं कर रहा है? इसलिए आज मैं भारतीय मीडिया की कार्यप्रणाली में आए कुछेक दोषों का उल्लेख करूंगा।

भारतीय मीडिया का पहला दोष तो यह है कि वह अक्सर तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के एक प्रमुख अखबार ने एक दिन अपने मुख्य पृष्ठ पर उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की न्यायमूर्ति ज्ञान सुधा मिश्र की तस्वीर के साथ दिये एक शीर्षक में लिखा कि 'सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीश ने कहा कि उसकी बेटियाँ देनदारी पर है।' मुख्य पृष्ठ पर छपी खबर का यह अत्यन्त विकृत और भ्रामक उदाहरण है। दरअसल सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों ने अपनी सम्पत्ति और देनदारियों (ऋणों) का खुलासा किया है जिसमें न्यायमूर्ति ज्ञान सुधा मिश्र ने देनदारियों (ऋणों) वाले कॉलम में लिखा-'दो बेटियों की शादी'। मैं बहुत सख्ती से कह रहा हूँ कि इसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं था क्योंकि देनदारियों का मतलब कानूनी देनदारियों से है। उदाहरण के लिए-आवास ऋण, कार ऋण आदि। यकीनन न्यायमूर्ति ज्ञान सुधा मिश्र का इरादा यह कहना था कि भविष्य में वह अपनी बेटियों की शादी

पर खर्च करना चाहती हैं। उनकी तीन बेटियों है और कोई बेटा नहीं है। उनमें से एक बेटी की शादी वे कर चुकी है। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा और न उनका ऐसा इरादा था कि उनकी बेटियाँ देनदारी पर है। यह खबर एकदम झूठी, अपमानजनक और सनसनी पैदा करने की नियत से बनाई गयी थी।

मीडिया का दूसरा दोष 'पेड न्यूज' के मुद्दे से सम्बन्धित है और इसमें वह लेटलतीफी का प्रमुख बन गया है। 'पेड न्यूज' 2009 के चुनावों में एक प्रमुख घोटाला था। मीडिया के इस शातिराना अभ्यास को कैसे रोका जाए? इस बात पर चर्चा की आवश्यकता है। संयोग से 19 सितम्बर 2011 को मुख्य सूचना आयुक्त द्वारा दिए आदेश के अनुपालन में गठित समिति के निर्वाचित सदस्यों-परंजोय गुहा ठाकुरता और श्रीनिवास रेड्डी की 71 पृष्ठीय रिपोर्ट हमने हमारी वेबसाइट (www.presscouncil.nic.in) पर रखी, जिसे 26 अप्रैल 2010 को आयोजित बैठक में प्रेस परिषद ने अस्वीकृत कर दिया था।

मीडिया का तीसरा दोष असली मुद्दों को दरकिनार करते हुए गैर-जरूरी मुद्दों को असली मुद्दों के रूप में चित्रित करना है। भारत में असली मुद्दे आर्थिक हैं और वजह यह है कि हमारे 80 फीसदी लोग गरीबी, बेरोजगारी, आवास और चिकित्सा देखभाल की कमी जैसी भयावह आर्थिक स्थितियों में रह रहे हैं। इसके बावजूद मीडिया इन वास्तविक मुद्दों को सम्बोधित करने की अपेक्षा अक्सर वह गैर-जरूरी मुद्दों को सम्बोधित करके लोगों का ध्यान उनसे हटाने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए, किसी फिल्म अभिनेता की पत्नी गर्भवती बन गयी है, वह एक बच्चे को जन्म देगी या जुड़वाँ बच्चों को जन्म देगी, और ऐसी ही कई वाहियात बातें। आजकल हमारा देश मीडिया द्वारा प्रचारित ऐसे ही 'असली मुद्दों' का सामना कर रहा है?

नागपुर में आयोजित 'लेक्मे इंडिया फैशन वीक' नामक कार्यक्रम में 512 मान्यता प्राप्त पत्रकार मिलकर यह कवरेज कर रहे थे कि कौन से मॉडल सूती वस्त्रों का प्रदर्शन कर रहे हैं जबकि उसी नागपुर से केवल एक घंटे की हवाई दूरी पर स्थित विदर्भ क्षेत्र में कपास उगाने वाले किसान आत्मदाह कर रहे थे, खुद को मार रहे थे। एक-दो स्थानीय पत्रकारों को छोड़कर किसी ने उनकी कहानी नहीं कही। क्या यह भारतीय मीडिया के कामकाज का जिम्मेदाराना तरीका है? दरअसल अब बारी मीडिया की उस नेल्सनी आँख की है जिसमें वह 'पोटेम्किन विलेजेज' (जहाँ केवल ग्लैमर और शो बिज आदि होते हैं) के स्थान पर उन कठोर आर्थिक वास्तविकताओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करे, जिसका सामना हमारी 75 फीसदी से अधिक जनता रोजाना करती है। भारतीय मीडिया यथार्थ से अनभिज्ञ रानी मैरी एंटोईनेटे की तरह बर्ताव न करे जिसने कहा था कि 'अगर लोगों के पास रोटी नहीं थी, उन्हें केक खाना चाहिए?' इसमें कोई संदेह नहीं कि कभी-कभी हमारा मीडिया किसानों की आत्महत्याओं, बुनियादी वस्तुओं की कीमतों में हो रही बेतहाशा वृद्धि जैसी कई महत्त्वपूर्ण बातों का भी उल्लेख करता है, लेकिन ऐसी कवरेज, समस्त कवरेज की अधिकतम 5 से 10 फीसदी ही होती है। कवरेज का बड़ा हिस्सा फिल्मी सितारों के जीवन, पॉप संगीत, फैशन परेड, क्रिकेट और ज्योतिष आदि को दिखाने में खर्च होता है।

ब्रांड निर्माण की प्रवृत्ति - यह मीडिया का चौथा बड़ा दोष है। दिल्ली उच्च न्यायालय, मुम्बई, बंगलौर और ऐसी ही अन्य जगहों पर हुए बम विस्फोटों की कवरेज बहुत ही नजदीक से ली गयी है। ऐसे बम विस्फोटों के कुछेक घंटों के भीतर कई टीवी चैनलों ने यह कहते हुए कि इंडियन-मुजाहिदीन या जैश-ए-मोहम्मद या हरकतुल-जिहाद- ए-इस्लाम ने ई-मेल या पाठ संदेश (मैसेज) के माध्यम से इसकी जिम्मेदारी लेने का दावा किया है, उसे दिखाना शुरू कर दिया। ऐसे तथाकथित संगठनों के नाम हमेशा एक समुदाय विशेष (मुस्लिम) ही होते है। आजकल ऐसा ई-मेल किसी भी शरारती तत्त्व द्वारा भेजा जा सकता है, लेकिन टीवी चैनलों और अखबारों ने इसे अगले ही दिन दिखाकर सभी मुसलमानों को हमलावर या बम फैंकने वाले आतंकवादी के रूप में पेश करके गलत ब्रांड निर्माण की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यह सच है कि सभी समुदायों के लोगों का 99 फीसदी (चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई हों या कोई और, वह किसी भी जाति या क्षेत्र के हों) अच्छा कर रहे हैं। लेकिन जिस तरीके से ऐसी खबरों को टीवी पर दिखाया और अखबारों में छापा जाता है, उसके पीछे यह धारणा काम कर रही है कि सभी मुसलमान आतंकवादी है जो कि पूरी तरह से गलत है। जो व्यक्ति ऐसे ई-मेल या पाठ संदेश (मैसेज) भेजता है, वह आज भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नफरत पैदा करने वाले ब्रिटिश सरकार के पुराने नियम 'फूट डालो और राज करो' को बनाए रखना चाहता है। क्या मीडिया का जाने-अनजाने, घृणा पर आधाारित 'फूट डालो और राज करो' नीति का हिस्सा बनना उचित है? इसमें कोई शक नहीं कि यह दोष केवल मीडिया में ही नहीं बल्कि हमारे अन्य संस्थानों (न्यायपालिका, नौकरशाही आदि) में भी मौजूदहै।

मीडिया में व्याप्त इन दोषों को दूर करने के दो तरीके हैं। पहला तरीका लोकतान्त्रिक तरीका है जिसमें हम विचार-विमर्श, परामर्श, समझा-बुझाकर या अनुनय-विनय के माध्यम से आगे बढ़ते हैं और यह तरीका मुझे बेहद पसन्द है। दूसरा तरीका मीडिया के खिलाफ कठोर उपाय करना है जिसमें गलती करने वाले बकाएदारों पर भारी जुर्माना, उन्हें मिलने वाले सरकारी विज्ञापनों को रोक लगाने व उनके लाइसेंस रद्द करने जैसे तरीके है। लोकतन्त्र में हमें सबसे पहले लोकतान्त्रिक पद्धति से दोष सुधारने के लिए पहले तरीके की पहल करनी चाहिए। इसके लिए मैंने मीडिया (प्रिंट व इलेक्ट्रोनिक) के साथ नियमित बातचीत आयोजित करने की योजना बनाई है ताकि सरकारी प्राधिकारियों या बाहरी एजेंसियों की अपेक्षा हम सभी आत्मनिरीक्षण करें और खुद मीडिया में व्याप्त दोषों को सुधारने के लिए सही समाधान की दिशा में आगे बढ़ें। मैं प्रस्तावित करता हूँ कि मीडिया से सम्बन्धित मुद्दों पर चर्चा के लिए हम प्रत्येक दो या तीन महीने में एक बार अवश्य मिलें और इस पर सोचें कि किस तरह हम मीडिया के प्रदर्शन व प्रस्तुति में सुधार ला सकते हैं जिससे यह ससम्मान लोगों का आत्मविश्वास जीत सके।

इन सबके बावजूद अगर मीडिया की कार्यप्रणाली में सुधार नहीं आता है तो उसके खिलाफ सख्त कदम उठाए जा सकते हैं। लेकिन मेरी राय में ऐसा केवल अन्तिम उपाय के रूप में और चरम स्थितियों में किया जाना चाहिए। आमतौर पर हमें पहले चर्चा, परामर्श, और आत्म-नियमन द्वारा मुद्दों को सुलझाने की

कोशिश करनी चाहिए। लोकतन्त्र में पहली बार यही दृष्टिकोण आजमाया जाना चाहिए। इसलिए मैं केन्द्र सरकार से हाल के समाचार चैनलों के लाइसेंस सम्बन्धी निर्णय के कार्यान्वयन को स्थगित करने का अनुरोध करूँगा। ताकि हम खुद को अच्छी तरह से इस मुद्दे पर चर्चा करें और खुद को सुधारात्मक उपायों के लिए तैयार करें। अब तक प्रेस परिषद की कार्यप्रणाली निर्णयादेश या अधिनिर्णय पर आधारित रही है। मैं प्रेस परिषद को मध्यस्थता का एक साधन या माध्यम बनाना चाहता हूँ और मेरी राय में यह लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण है। इस प्रयोजन के लिए मुझे आपकी (मीडिया की) मदद, सहयोग और सलाह की जरूरत है। आज भारत इतिहास के एक संक्रमणकालीन दौर से होकर गुजर रहा है। सामन्ती कृषक समाज से होकर आधुनिक औद्योगिक समाज की ओर जाता यह दौर बहुत ही दर्दनाक और मानसिक सन्ताप का दौर है। इस संक्रमणकालीन दौर से जितना सम्भव हो उतना जल्दी निकलने और इसमें होने वाले सामाजिक दर्द को कम करने में मीडिया को समाज की मदद करनी चाहिए। इस दौरान जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसी सामन्ती मानसिकताएँ आधुनिक वैज्ञानिक विचारों पर हमला भी करेंगी लेकिन हमें आधुनिक वैज्ञानिक विचारों को बढ़ावा देना है।

अनुवाद-पुखराज जाँगिड़

❑

'वन्स अपॉन अ टाइम' का विमोचन



दिल्ली के सिविल सर्विसेज ऑफिसर्स इंस्टीट्यूट में सुरेंद्र कुमार के कहानी संग्रह 'वन्स अपॉन अ टाइम' का विमोचन किया गया। ग्रामीण विकास मंत्रालय के भूमि विकास विभाग की सचिव श्रीमती अनीता चौधरी ने इस कहानी संग्रह का विमोचन किया। उनके साथ कई गणमान्य लोग भी मौजूद थे। इंडियन फॉरेस्ट सर्विस ऑफिसर रहे सुरेंद्र कुमार का यह पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह में कुल सोलह कहानियाँ हैं। इन सभी कहानियों का कथानक लेखक ने अपने परिवेश के आसपास ही बुना है। कुछ ऐसा जिसे वे बचपन में ही जी चुके हैं, और कुछ ऐसा जिसे वे जी रहे हैं। स्वाभाविक तौर पर ऐसे में गाँव की कहानियों से लेकर नौकरी के दौर के बीच का लंबा वक्फा उनकी कहानियों में परिलक्षित होता है। सुरेंद्र कुमार के कहानी संग्रह का विमोचन करते हुए श्रीमती अनीता चौधरी ने कहा कि, 'जिम्मेदारी के पद पर होते हुए कहानी लिखने के लिए समय निकालना अपने आप में बड़ी चुनौती है, लेकिन मुझे गर्व है कि मेरे विभाग के ही सुरेंद्र कुमार ने इसे संभव कर दिखाया है।' उन्होंने कहा, 'इस कहानी संग्रह में एक कहानी है, हाकिम सिंह। गाँव में जन्मा और पला-बढ़ा हाकिम सिंह फौज से रिटायर होने के बाद ड्राइवर बन जाता है। अच्छी कद काठी और सुघड़ पहनावे की वजह से वो काफी रौबीला दिखाई देता है। और इसी वजह से उसे अपनी नौकरी भी गंवानी पड़ जाती है।' चौधरी ने हाकिम सिंह की कहानी का विस्तार से वर्णन किया। उन्होंने भी माना कि कई बार ऐसा होता है, लेकिन सुरेंद्र कुमार की सतर्क नजरों ने इसे पकड़ा और अपने कहानी संग्रह में बखूबी पिरोया है।' अनीता चौधरी ने अपने दूसरे अधीनस्थों को भी सुरेंद्र कुमार जी से प्रेरणा लेने की सलाह दी। उनके बाद 'वन्स अपॉन अ टाइम' के लेखक सुरेंद्र कुमार ने अपने संक्षिप्त सम्बोधन में उन परिस्थितियों के बारे में बताया जब वे कहानी लिखने के लिए प्रेरित हुए। इस संग्रह की भाषा इतनी सरल है कि थोड़ी अंग्रेजी जानने वाला पाठक भी खूब रस ले सकेगा। इसकी भाषा के बारे में उन्होंने कहा कि, 'आज के लेखक सोचते भी अंग्रेजी में हैं, और लिखते भी अंग्रेजी में हैं, लेकिन चूंकि मैं बचपन से ही गाँव से जुड़ा रहा और वो जुड़ाव आज भी कायम है, इसलिए मैं सोचता अपनी आंचलिक भाषा में हूँ, लेकिन लिखता अंग्रेजी में हूँ। और इसी वजह से भाषा सरल और प्रवाहमयी बनी रह सकी है।' लेखक ने कहा कि इस संग्रह की सभी कहानियाँ आसपास के परिवेश के इर्दगिर्द ही बुनी गयी है। जिसमें गाँव के पंडित जी से लेकर कॉलेज लाइफ और फिर बाद में नौकरी के दिनों में मिला अनुभव भी शामिल है। सुरेंद्र कुमार की कहानियों में ड्राइवर और ऑफिस क्लर्क, अधिकारी और तमाम लोग मौजूद हैं, जिनसे आपकी रोजमर्रा की जिंदगी में मुलाकात होती है। इस संग्रह में 'द पोल स्टार' जैसी कहानी भी है, जिसमें कॉलेज के दिनों में युवा दिलों की बढ़ती धड़कनों की कहानी है, ऐसे प्यार की कहानी जो पूरी नहीं हो पाती, वहीं 'इनविजिबल वॉल' जैसी कहानी भी है जो समाज में गैरबराबरी के मुद्दे को उठाती है। जबकि 'हाकिम सिंह' जैसे कर्तव्यनिष्ठ ईमानदार ड्राइवर की कहानी की चर्चा पहले हो चुकी है।

कहानी संग्रह के विमोचन कार्यक्रम की औपचारिक शुरुआत मुख्य अतिथि श्रीमती अनीता चौधरी के स्वागत से हुई। 'सबलोग' और 'संवेद' के संपादक किशन कालजयी ने फूलों से उनका स्वागत किया, और विमोचन से पहले की भूमिका तैयार की। उन्होंने सुरेंद्र कुमार की पूरी रचना प्रक्रिया के बारे में बताया। जबकि कार्यक्रम के समापन से पहले इस्पात मंत्रालय में संयुक्त सचिव यू.पी. सिंह ने कार्यक्रम में पहुँचे सम्मानित लोगों को धन्यवाद ज्ञापित किया। 'वन्स अपॉन अ टाइम' कहानी संग्रह का प्रकाशन 'नयी किताब' ने किया है।

–राजन अग्रवाल

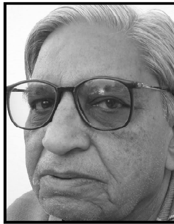
उम्मीद अभी बाकी है...

नवल किशोर



ऐसा क्यों है? हमने लोकतन्त्र को कायम रखा है, देश और प्रदेश में सरकारें जनता की चुनी हुई हैं। हमारे साथ और बाद में आज़ाद हुए मुल्क जहाँ सैनिक सरकारों के अधीन होते गये थे और अब तक भी विफल लोकतन्त्र के उदाहरण बने हुए हैं- हमारी यह उपलब्धि कम बड़ी नहीं है?

प्रदेश के जिस ग्रामीण अंचल से मैं आता हूँ, वहाँ क्रान्ति या सत्याग्रह की कोई सुगबुगाहट मैंने अपने बचपन में नहीं देखी-सुनी थी, न रेडियो था न कोई अख़बार आता था। ऐसे में 15 अगस्त 1947 को अपने स्कूल के मैदान में राष्ट्रीय ध्वज को दी गयी सलामी का अभूतपूर्व आह्लाद मुझे अभी तक स्मरण है- उस समय के प्रधानाध्यापक के वे शब्द भी कि 'अब हम न गोरों के राज में हैं, न राजाओं-जागीरदारों के राज में, अब हमारे बड़ों के बीच से चुने गये लोग ही राज करेंगे और हमारे छात्रों के लिए आगे अच्छी नौकरियाँ इन्तज़ार कर रही हैं, इलाज के लिए अब दूर कस्बे तक जाना नहीं होगा, गाँवों में ही अस्पताल खुलेंगे और आगे की शिक्षा के लिए भी दूर बड़े शहर में जाने की ज़रूरत नहीं रहेगी। यह सब सुनना बहुत सुखद लगा था। आज अपनी उम्र के चौथेपन में देख रहा हूँ कि मेरे उस गाँव में उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हो गया है, लेकिन निरक्षर लोग अभी-भी काफी हैं- जितने बच्चे स्कूलों में जाते हैं, उनमें से बहुत सारे दो-चार साल बाद छोड़ देते हैं और अपने निरक्षर माता-पिताओं से बहुत अलग नहीं लगते, गाँव में दवाखाना भी है, पर वैद्य को फीस देनी होती है और ज़्यादातर दवा बाज़ार से लेनी होती है, गाँव के ज्यादा पढ़े-लिखे लड़कों में भी ज़्यादातर नौकरियों के लिए भटकते-फिरते हैं, गाँव में पक्के मकानों की तादाद बढ़ी है, पर कच्चे-अधपक्के घरों वाले मकान ही ज़्यादा हैं। मतलब आज़ादी के साठ साल बाद भी खुशहाली का वह आलम नहीं है, जिसका सपना उस दिन हम बच्चों को सुनाया गया था। ऐसा नहीं है कि गुलामी के पहले के देश और आज के देश में विस्मयकारी बदलाव नहीं हुआ है - हुआ है और इतना कि सूर्य-चन्द्रग्रहण में आकाशीय नक्षत्रों से डटने-सहमने वाले देश ने चन्द्रयान भेजने का कमाल कर दिखाया है और विदेश जाने वाले रिश्तेदारों से छोटे-मोटे इलेक्ट्रोनिक उपकरण मँगाने वाले हमारे लोग अब विदेशों में अपने देश का माल खपाने बड़ी संख्या में जाने लगे हैं। लेकिन अब भी यह देश चंद लाख अमीरों के लिए तो 'इंडिया' है- पश्चिमी अमीरों से



लेखक हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक हैं।
+919351587096

मिलती-जुलती रईसी में जीने वालों का -और करोड़ों के लिए 'भारत' है- फटेहाली, भुखमरी, बीमारी, गन्दगी में जीते और रोजी-रोटी के लिए जूझते लोगों का।

ऐसा क्यों है? हमने लोकतन्त्र को कायम रखा है, देश और प्रदेश में सरकारें जनता की चुनी हुई हैं। हमारे साथ और बाद में आज़ाद हुए मुल्क जहाँ सैनिक सरकारों के अधीन होते गये थे और अब तक भी विफल लोकतन्त्र के उदाहरण बने हुए हैं- हमारी यह उपलब्धि कम बड़ी नहीं है? लेकिन आज़ादी का हमारा सपना क्या था? गाँधी का रामराज्य और ग्रामराज्य- जहाँ शासन पर बैठने वाले का फर्ज़ होगा- ''आखिरी आदमी के आँसू पोंछना'' और नेहरू का समाजवाद-जो देश से कंगाली को कचरे की तरह साफ करेगा और हर गरीब टाटा-बिड़ला-अंबानी तो नहीं होगा, लेकिन एक खाता-पीता और भरा-पूरा घरबारी जरूर होगा। वैसा क्यों नहीं हुआ? इसलिए नहीं हुआ कि स्वतन्त्रता-सेनानी कुछ निष्ठावान नेताओं की उपस्थिति के बावजूद हमारा सत्ताधारी वर्ग बहुत जल्द सत्ताकांक्षी और स्वार्थलिप्त नेताओं का जमावड़ा बनता गया और आज तो स्थिति यह है कि बहुतेरे नेता साफ कहते हैं कि वे राजनीति में फकीरी के लिए नहीं आये हैं-कुर्सी पाने (यानी राजसुख भोगने) के लिए आये हैं- राजनीति उनका मिशन नहीं, पेशा है। इसका नतीजा यह हुआ कि चाहे संसद के लिए चुनाव हों या विधान सभा के लिए, लोकतन्त्र चुनावी अनुष्ठान में बदल गया है- धनबल, बाहुबल, छलबल जैसे भी हो बस चुनाव जीतकर जन-प्रतिनिधि बनना और सत्ता हथियाना ही नेता का उद्देश्य बन गया है। ऐसे लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार का फलना-फैलना स्वाभाविक ही था और शासन की हर संस्था का प्रदूषित होना उसी का अनिवार्य परिणाम है।

पिछली सदी के अन्तिम दशक से शासन-व्यवस्था, उसकी बागडोर चाहे एक दल के हाथ में रही हो या बहुदलीय सरकारों के हाथ में, सर्वथा जनविमुख होती गयी है। विकास का लक्ष्य अकिंचन के जीवन-स्तर के उन्नयन से तय नहीं होता, धनकुबेरों के लिए खजाने खोलने से होता है- गरीब को सम्पत्ति के छनकर उन तक पहुँचने का दिलासा भर दिया जाता है।

हमारे लोकतन्त्र के विद्रूपीकरण का सबसे प्रामाणिक साक्ष्य पाना है तो हमें अपना साहित्य देखना चाहिए। छठे दशक से ही हिन्दी में मोहभंग का जो दौर शुरू होता है, वह आगे चलकर सत्ता-प्रतिरोध में बदल जाता है और वह बदस्तूर चल रहा है। हमारे अधिकांश लेखकों में, जो कम्युनिस्ट नहीं थे तब भी, एक समतावादी समाज के लिए बेचैनी हमेशा रही है। सोवियत रूस में साम्यवाद के अन्त के बाद भी उनमें से ज्यादातर ने उदारवादी अर्थशास्त्रियों की तरह पूँजीवाद का जयघोष नहीं किया और इसलिए वैश्वीकरण और उदारीकरण के मीडिया (जो पूँजीपतियों के नियन्त्रण में है)। प्रायोजित प्रचार में न बहक कर साधारण-जन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखी है। उन्होंने लोकतन्त्र का जो स्वप्न देखा था और अब भी देखते हैं- उसमें मार्क्सवाद का अभावमुक्ति और समानता का दर्शन, गाँधीवाद की अहिंसात्मक राजनय व दरिद्रनारायण की सेवा में तत्पर शासन-व्यवस्था का जज़्बा और पश्चिमी इहलोक-प्रमुखता व धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्र की वैचारिक स्वाधीनता का चिन्तन-इनका सम्मोहक सम्मिश्रण है।

जब तक हम लोकतन्त्र के लिए एक बेहतर चुनाव-प्रणाली नहीं खोज लेते, सरकारें बदलती रहेंगी पर वे शासन 'जनता के लिए' कम करेंगी। इस स्थिति को सामने रखने के बाद भी हमें मतदान में भाग लेते रहना है- इससे जुड़कर ही हम बेहतर जन-प्रतिनिधि की एक निरन्तर तलाश में शामिल हो सकते हैं और उसके लिए अनवरत राजनीतिक दबाव भी बनाए रख सकते हैं।

बुरा-से-बुरा लोकतन्त्र भी अच्छी-से-अच्छी तानाशाही से अच्छा होता है। किसी भी लोकतन्त्र में जब तक निर्वाचन अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और विश्वसनीय होते हैं और चिन्तन व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार सहित जनसंगठन बनाने के अवसर उपलब्ध होते हैं, किसी हिंसक क्रान्ति द्वारा व्यवस्था बदले जाने की सम्भावना कम होती है। सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता न केवल लम्बा होता है, वह रक्तपातपूर्ण इतिहास तो रचता ही है, सत्ता को अपना दमन-चक्र चलाते रहने का मौका भी देता है। हमारे देश में जन-विस्थापन के विरुद्ध चलाये गए अहिंसात्मक जन-अभियानों को तत्काल भले ही बड़ी सफलताएँ न मिली हों, लेकिन सशस्त्र क्रान्ति के नगण्य से मुक्ति-अंचलों की सन्देहास्पद उपलब्धियों से वे कहीं बड़ी हैं। लोकतन्त्र में स्वसुधार की सम्भावना सदैव मौजूद रहती है- अँधेरे आसमान में उजास की रेखा सहसा फूटती है। कोई जयप्रकाश आता है और जनता को जगाता है तो 'सम्पूर्ण क्रान्ति' भले न हुई हो, लेकिन देश में आपातकाल लगाने का फैसला आज की या भविष्य की कोई सरकार शायद ही कभी कर सके। 'सम्पूर्ण क्रान्ति' नहीं हुई, पर जनान्दोलन का हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास में एक और अध्याय जुड़ा। जनता की साँस भ्रष्टाचार की काली हवा में घुटने लगी तो उसे संघर्ष-सन्नद्ध करने के लिए अन्ना हजारे के रूप में फिर एक जननायक उभरा।

दक्षिण अमरीकी देशों-ब्राजील, अर्जेन्टीना, कोलम्बिया, बोलिया आदि-का उदाहरण सामने हैं, जहाँ नवपूँजीवाद-विरोधी एवं जनपक्षधर सरकारें सत्ता में निर्वाचन से ही आयीं और पूर्व तानाशाही-शासित देशों के काले राजनीतिक क्षितिज पर आम आदमी के लिए उजास की भविष्य-रेखा प्रकटित हुई। मिस्र से शुरू हुआ जनान्दोलनी दौर मध्यपूर्व के इतिहास को बदलता दिखाई दे ही रहा है।

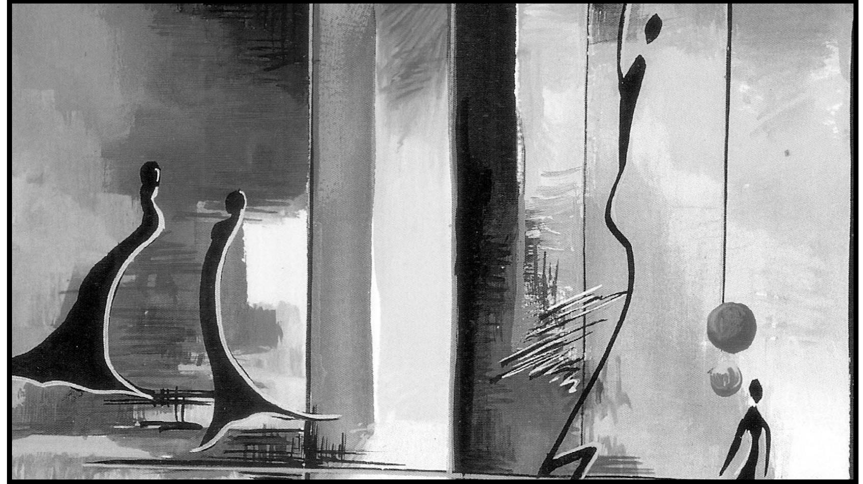
और इस तरह कदम-दर-कदम लोकतन्त्र के वास्तविक जनतन्त्र में देर-सबेर बदलने की नयी-नयी आशा जगती रहती है। ❑

बुरा-से-बुरा लोकतन्त्र भी अच्छी-से- अच्छी तानाशाही से अच्छा होता है। किसी भी लोकतन्त्र में जब तक निर्वाचन अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और विश्वसनीय होते हैं और चिन्तन व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार सहित जनसंगठन बनाने के अवसर उपलब्ध होते हैं, किसी हिंसक क्रान्ति द्वारा व्यवस्था बदले जाने की सम्भावना कम होती है।

lkfgR;

आलोचना का समकालीन सन्दर्भ

प्रमीला केपी



अकादमिक या अध्यापकीय लोगों की भाषिक कसरत समकालीन आलोचना का दूसरा संकट है। राजनैतिक, दलीय या सत्तापक्षीय दबाव में विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में परिजनों की पुस्तकें रखी जाती है। पुस्तकालयों के लिए किताबों की खरीदारी व अध्यापकों की नियुक्ति के लिए घूस व भ्रष्टाचार चलते रहते हैं। इस सन्दर्भ में किसी ऐसी संस्था में अच्छे अकादमिक कार्य की उम्मीद नहीं की जा सकती।

''सच बात तो यह है कि आज हिन्दी आलोचना, रचना और पाठ का क्षेत्र हिन्दी के तमाम छोटे-बड़े हिजड़ों की नपुंसक नियति के साथ अपनी बर्बादी पर आठ-आठ आँसू रोने को अभिशप्त है।'' - छोटे सुकुल जी

'' आज रचनाकार हर क्षेत्र में आगे बढ़कर प्रतिनिधित्व कर रहा है। आज के रचनाकारों को सशक्त आलोचक की आवश्यकता है। अच्छे आलोचक नहीं होने से रचनाकारों को परखा नहीं जा सका है। अच्छे आलोचकों की कमी से मजबूत रचनाकार सामने नहीं आ रहे हैं।''- अमरकान्त

आलोचना को लेकर, विशेष कर हिन्दी आलोचना को लेकर युवा पीढ़ी की कई शंकाएँ और आकाक्षाएँ हैं, जो अर्थपूर्ण हैं। युवा दोस्तों के सवालों पर सहानुभूतिपूर्वक ध्यान देना है, जिसका अभाव चिन्ताजनक है। अगली कड़ी को देखे बिना या युवा पीढ़ी के सवालों पर ध्यान दिए बिना पुरानी या वयस्क पीढ़ी चाहे कितना भी प्रबुद्ध एवं पंडिताउ कार्य करते रहें, उन्हें सकारात्मक तभी माना जाता है जब उन्हें आगे के लोग समझ लेते हैं। इनमें कुछ बातें कनिष्ठ मानस की सामान्य शिकायतें हैं तो कुछ हर विद्यार्थी-शोधार्थी के आगे प्रस्तुत व्यावहारिक समस्याएँ हैं।

विशाल अर्थ में आलोचना, मनुष्य के दैनन्दिन जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। वह किसी रचना की विवेचना या मूल्यांकन भर नहीं है । उसका ध्येय मनुष्यता की रक्षा के लिए हर चीज का समालोचन है। अत: दूसरी साहित्यिक विधाओं की तुलना में आलोचना का क्षेत्र सामाजिक एवं साहित्यिक परिवर्तन के उपलक्ष्यों में व्यापक व प्रयत्नशील होता है। किसी रचना की आलोचना के प्रसंग में भी पुनर्दृष्टि, परिवर्तनशील चाक्षुषक्षमता में सम्भव होती है। परन्तु कपट एवं नौसिखिया वैचारिकता के युग में उसकी दार्शनिक व्यापकता सिमटकर, विधाभर की दुर्दशा देखने को मिलती है।

साहित्यिक सौन्दर्य एवं जनसामान्य के जीवन से तालमेल नहीं रखने वाली रचनाओं-आलोचनाओं पर सोचें। हर विद्यार्थी का यह आग्रह हो सकता है कि रचना में झांककर, उसके अन्तरार्थों को खोलनेवाले आलोचनात्मक प्रयास सामने आये। दायित्वपूर्वक अध्यापकीय-कार्य करनेवाले सन्तुलित आलोचनात्मक आलेखों पर उनकी दृष्टि एवं रुचि है। सच तो यह है



लेखिका देवी शंकर अवस्थी सम्मान से पुरस्कृत हिन्दी की आलोचक हैं।
pramikp@gmail.com

कि ऐसा कार्य, सैद्धान्तिक व व्यावहारिक अर्थ में, इस समय के मुताबिक नहीं है। समकालीन समय में साहित्य को जो पढ़ना चाहते हैं, पठन-पाठन के उत्सुक हैं, उनका अपना दायित्व है कि सही एवं सुनियोजित रचनाओं व आलोचनाओं को ढूंढ़ निकाले और अध्यवसाय, चिन्तन-मनन और दूरदर्शिता के बल पर पढ़ें। 'रेडीमेड' के युग में न मिलने की शिकायत का एक पक्ष युवा पीढ़ी की उदासीनता तथा रुचिहीनता सम्बन्धी भी है। सच है कि युवावस्था के काबिज लोगों में पुस्तकीय रुचि की तुलना में दूसरे माध्यमों - जैसे इंटरनेट - में तत्परता बढ़ी है। आसानी से परिणाम हासिल करने की चिन्ता आज की पीढ़ी की ही नहीं, बल्कि सारे युग की विभीषिका बन गयी है। संकट सिर्फ साहित्य का नहीं है, साहित्यिक शोधकार्य को सस्ता और आसान मानने से पूरी मानवराशि की भविष्योन्मुखी वृत्तियाँ सतही और पथभ्रष्ट हो जाती हैं।

सुन्दर भाष का अतिपाठ-सृजन समकालीन आलोचना का पहला संकट है। वर्णन की अतिरेकतावादी अतिप्रशंसात्मक समीक्षा निकाली जाती है तो पाठक लुभा जाते हैं। एडवेर्ड सइद ने कहा था कि बुद्धिजीवियों के दो लक्षण होते हैं - भाषा का सदुपयोग और भाषा में सामयिक दखल की क्षमता। अतः भाषा के माध्यम से जनता से संवाद कायम रखना आलोचना का ध्येय है। जिस युग में भाषा प्रयोग की गति फिसल जाती है, वहाँ पर असामयिक, असम्बद्ध एवं अलक्ष्य रचनात्मक हरकतें निकलती हैं। लेखक के साथ या उसके झुंड में जा मिलनेवाले आलोचकों की समीक्षा, अक्सर प्रशंसात्मक वचनों में निकलती है। अभिभूतता में वे रचना की विवेचना भूल बैठते हैं तो आस्वादन का एकोन्मुखी शब्दाडम्बर निकलता है। नामी लेखक या आलोचक से समीक्षा या कॉलम लिखवा कर संवाद निर्मित करने के रचनाकार या प्रकाशक का परिश्रम भी किसी से छुपा नहीं है। निर्मित झुंड के निर्माण के बल पर पलनेवाली 'साहित्यिक दुनिया' का कोई भविष्य नहीं होगा। प्रशंसात्मक वचनों से भरपूर आलोचना में कभी कभी शब्द सौकुमार्य की लुभावनी रीतियाँ अपनाई जाती हैं तो पाठक भी, कुछ समय के लिए ही सही, मन्त्रमुग्ध रह जाते हैं। पर बाद में सच जानकर रचना के साथ आलोचना को भी खारिज करने वाली पुनर्समीक्षाएँ निकलती हैं। आलोचक एवं पाठक यह भी भूल जाते हैं कि इससे आलोचना विधा एवं सहित्यिक परिदृश्य में कोई वैचारिक फैलाव नहीं मिलता, ये मात्र आक्षरिक झूठ या रचनात्मक फरेब की चंडूखानेबा रह जाती हैं। मनीषियों की भाषा सुन्दर तब होती है जब उसमें अधिकांश लोगों - किसानों, निरक्षरों तथा अल्पसंख्यकों-का भी संवादात्मक-संवेदनात्मक ज्ञान बहता है। इसलिए ही विस्थापित, अनुभव वेता बुद्धिजीवी एडवेर्ड सइद ने कहा है कि 'यथार्थ एवं धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी के आगे कोई आराधना का मार्ग नहीं होता, आराधना के लिए भगवान भी नहीं होता।' संस्थाओं तथा वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं से त्रस्त आज के रचनाकार समझौतापरस्त हैं, मौकापरस्त हैं। सच के खंडित रूपों के क्रय-विक्रय में वे निज स्वार्थ में लगे रहते हैं। साहित्यिक एवं रचनात्मक ध्येय मनुष्यत्व की रक्षा एवं मानवराशि की भविष्योन्मुखता की रखवाली को लेकर होता है। भाषा उसका साधन है, इस अर्थ में भाषिक समुदाय उसका रक्षक होता है। परम ध्येय मनुष्यत्व का ही है। इसलिए भाषा सम्बद्धता की कोई एकांगी व्याख्या सीमित रह जाती है। रचना के पर्त खोलने की दिशा में काल-समयानुसार आलोचनात्मक दृष्टि विस्तृत होनी चाहिए। अर्थात् आलोचना वह विधात्मक प्रयास है जो खुद अपनी पूर्ववर्ती कड़ी की त्रुटियों, सीमाओं तथा गलतियों को सुधारती आगे बढ़ती है।

अकादमिक या अध्यापकीय लोगों की भाषिक कसरत समकालीन आलोचना का दूसरा संकट है। राजनैतिक, दलीय या सत्तापक्षीय दबाव में विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में परिजनों की पुस्तकें रखी जाती है। पुस्तकालयों के लिए किताबों की खरीदारी व अध्यापकों की नियुक्ति के लिए घूस व भ्रष्टाचार चलते रहते हैं। इस सन्दर्भ में किसी ऐसी संस्था में अच्छे अकादमिक कार्य की उम्मीद नहीं की जा सकती।

अकादमिक क्षेत्र से निकलनेवाली रचनाएँ अधिकाधिक पेटपोसी आतंक, पेशापोसी व्यायाम तथा सुरक्षित वाग्जाल के उदाहरण हैं। पदोन्नति की महत्वाकांक्षा से पीड़ित होकर कोई कुछ लिखता है तो वहाँ आलोचना का प्रेत निकलता है। पेशे से अध्यापक या अकादमिक होने से कोई आलेचकीय द्रष्टा या स्रष्टा नहीं बन जाता। आलेख लिखने व प्रकाशित करवाने के पेशेगत दबाव में यह होता रहता है। अकादमिक शोधकार्य में लगे रहनेवाले लोगों का दायित्व सामान्य समीक्षकों की तुलना में कई गुना अधिक है। पर यहाँ से रीतिशास्त्र या प्रविधि के बिना अक्सर लेखक केन्द्रित या पुस्तक केन्द्रित शब्दजाल निकलते रहते हैं। अपने बचाव में विश्वविद्यालयी परिसर से निकलनेवाली पत्रिकाएँ, अकादमिक दरिद्रता की स्पष्ट सूचना देती हैं। अकादमिक आलोचना की मानी हुई एक प्रविधि होती है, सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य होता है। इस बात की कोई सख्ती नहीं है कि हर लेख उसी का अनुसरण करे, पर इतना जरूरी है कि प्रच्छन्न रूप से ही सही, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक चिन्तन-मनन का सम्मेलन आलेख में सहज प्रस्तुत हो। भूलना नहीं चाहिए कि संख्या में ज्यादा निकलनेवाली लोकप्रिय एवं लघु पत्रिकाओं के लिए यह प्रविधि उबाउ रहेगी, इसलिए वे इसके लिए कोई शर्त नहीं रखती। पर इसका मतलब यह नहीं कि 'कुछ भी' लिख कर उसे 'नव-आलोचना' या 'उत्तराधुनिक-विमर्श' के रूप में पेश करें। यहाँ पर परिजनों व मित्रजनों की घिसी-पिटी रचनात्मकता को स्थान देनेवाली 'सरकार नियन्त्रित या प्रतिष्ठित संस्थाओं की पत्रिकाओं' की बदहाली भी चिन्तनीय है। पत्रिका के पन्ने भरने के लिए आक्षरिक प्रताड़नाएँ होती हैं तो उनसे पूरे साहित्य की अवनति हो जातीहै।

कृत्रिम भाषा निर्मिति की अबूझ स्थिति समकालीन आलोचना की तीसरी समस्या है। सार्वजनिक पाठसृजन को सहज तैयार रखनेवाली रचनाएँ बहुत कम निकलती हैं। नव विषयों तथा रचनागत उन्मेष की खोज में दूसरी भाषाओं से रचनाओं का अनुवाद किया जाता है। हिन्दी के प्रसंग में शिकायत यह मिलती है कि पाश्चात्य रचनाओं का एकतरफा अनुवाद होता रहता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा चिन्तन और आलोचना, वर्तमान साहित्य, संपादक: अरविंद त्रिपाठी, (शताब्दी आलोचना पर एकाग्र 2 जून 2002 पृ. 99)

इस पर हिन्दीवालों को गौर करना है। लक्ष्यभाषा-संस्कृति के विरोध में जानेवाला कोई पाठ क्यों प्रसारित किया जाता है? अग्रताग्रन्थि के प्रदर्शन में कोई पाठ निकलता है तो उसे खारिज करना या उनसे परहेज रहना पाठकीय जिम्मेदारी है। विमर्श एवं आलोचना के क्षेत्र में विश्वभाषा अँग्रेजी में लिखित पुस्तकों से

सहायता ली जा सकती है। हिन्दी के सन्दर्भ में समस्या यह है कि इनकी संकल्पनाएँ या तो अपरिचित होती हैं, नहीं तो अंग्रेजियत के अयाचित नकल में ये अपठनीय रह जाती हैं। साहित्येतर विषयों में हिन्दी में उपलब्ध किताबों में यह समस्या आम है, विमर्श के आलेखों व किताबों पर भी एक हद तक यह बात लागू है। अंग्रेजी में ही नहीं, किसी भी भाषा में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान या साहित्य की सामग्रियाँ पढ़ लेनी चाहिए। उसमें कोई गुलाम-मनोवृत्ति या ज्ञानात्मक कमजोरी नहीं है। भारतेन्दु से लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी सहित हिन्दी की परम्परा के सभी रचनाकारों पर नजर डालें तो यह सिद्ध होगा कि वे अंग्रेजी में उपलब्ध सामग्री पढ़ने से खुद की आलोचना एवं लेखन में लाभान्वित रहे हैं। ग्रहणीयता, विवेकाश्रित प्रक्रिया होती है। वैश्विक परिसर पर हिन्दी के आलोचकों व लेखकों के नाम सुनाई नहीं पड़ते तो उस तरफ हिन्दी के पाठक, प्रकाशक एवं आलोचक को कार्य करना होगा। भाषा की सामग्री को अन्तरराष्ट्रीय पाठकों तक पहुँचाना बड़ा जिम्मेवार कार्य होता है। हिन्दी की इस स्थिति को दूर करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन व अनुवाद की मांग जोरों पर है। पर इस दिशा में गुणात्मक सक्रियता कम नजर आ रही है। हर बात के चयन, उपयोग एवं प्रयोग में व्यावहारिक क्षमता का आकलन अनुपेक्षणीय है। काल, समय, पाठकों की रुचि आदि के साथ मार्केट की गतिशीलता को भी देखना है। इन सब पर आँखें मूंदकर राजनीतिज्ञों एवं उनके चापलूस-समर्थकों को बुलवाकर अमेरिका में 'हिन्दी' कार्यशाला का आयोजन करने से हिन्दीभाषा व संस्कृति का कोई भविष्य नहीं होगा। अपनी भाषा व संस्कृति की खासियतों व परिवर्तनगामिता को दूसरों तक पहुँचाने योग्य अनूदित एवं पुनर्लिखित रचनाएँ किसी भी भाषा-संस्कृति की वैश्विक पहचान कराने में सक्षम रहेंगी। अँग्रेजी में लिखित या जर्मन, ग्रीक आदि से अँग्रेजी में अनूदित कई रचनाएँ इस तरह हिन्दी या भारतीय भाषाओं में प्रशस्त होने का कारण क्या है? भाषा-स्नेहियों की भूमिका यहाँ पर बहुत दायित्वपूर्ण बन जाती है। सबकुछ आपके आगे उपलब्ध है, आपको ही चयन करना है, ढूंढ़ना है। शंका नहीं कि हर किसी को तृप्त करनेवाली साहित्यिक सम्पदा इस दुनिया में उपलब्ध है। कहाँ हैं, किस भाषा और प्रदेश में हैं, इसे पहचानना, पाठकीय रुचि एवं कौशल को प्रमाणित करनेवाली अनवरत प्रक्रिया है। समझदार लोगों में पाश्चात्य आलोचना को बेहतर मानने की पूर्वधारणात्मक स्थिति नहीं है। अपनी बात सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग किया जाता है तो उसमें कोई लज्जा की बात भी नही। इंटरनेट की उपलब्धता के कारण सामग्री संचयन का आसान मार्ग खुल गया तो उससे लाभ उठाने वाले लोग हैं। यह स्वाभाविक व सामयिक परिणति है । इससे क्यों घबराएँ? पुस्तक पढ़ना और इंटरनेट देखना दो अलग अलग स्थितियाँ हैं। विश्लेषण के तौर पर इनमें एक या दोनों को आत्मसात करनेवाले लोग होंगे । देखना यह है कि अपनी भू-परिस्थितियों के अनुकूल इनका उपयोग-प्रयोग कौन कर रहा है। देश के भीतर ही रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रवाद, जातिवाद, नस्लवाद या सम्प्रदायवाद फैलाने का प्रयास होता है। विदेशी अंधानुकरण ही नहीं, देशी सम्प्रदायवाद भी समान तौर पर खतरनाक है।

विषयानुसार भाषिक सहजता आलोचना को खुद्दार विधा बनानेवाला तत्त्व है। आलोचना अपने स्वभाव में ही साहसिक रचना होती है। जब वह सहज होगी, सोद्देश्य भी होगी। उसमें सृजनात्मक ऊर्जा का प्रसारण होगा। उस प्रसंग में रचनाकार से बढ़कर रचनात्मक अभिहितों का महत्व प्रस्तुत होगा। लेखन में ही नहीं, अध्ययन-अध्यापन-शोधकार्य में इसी ऊर्जा का शृंखलाबद्ध रचनात्मक-सुख स्वायत्त होगा। मुक्तिबोध जैसों के शब्द संयोजन और स्वतन्त्र चयन की शैलियों पर ध्यान दें - उरांग-उटांग, ब्रह्मराक्षस आदि को याद करें - ऐसा कार्य, रचनात्मक समय में जोखिम रहा होगा। नव विषयों की खोज व उपेक्षितों के सौन्दर्यबोध के सृजन में ये सहज एवं सनातन रचनात्मक प्रयास रहे हैं। रचना का अतिजीवन ऐसे प्रयासों से सुरक्षित रह जाता भी है। दूरदर्शिता के अभाव में अल्पजीवी या अधमरी रचनाएँ निकलती रहती हैं और उन्हें विभिन्न कारणों पर पत्र-पत्रिकाओं में स्थान मिलता भी है।' यूज एण्ड थ्रो' के युग में एक बार पूरा पढ़ने तक कोई तैयार नहीं होता। विसंगति यह है कि इसी समय में बार बार पढ़ने की ललक पैदा करनेवाली कोई भी सामयिक सृजन बहुत मुश्किल रहता है। अप्रतिम रचनात्मक शख्सियत के लिए पाठकों की कोई कमी नहीं होगी। सहज अनुभव की कमी में निर्मित सतही रचना के आगे संपादकीय वाक्य - जैसे स्त्रीविमर्श, दलित विमर्श या पर्यावरण विमर्श - जोड़कर उसे ब्राक्कटाईस' करने का प्रयास भी देखने को मिलता है। शंका नहीं कि सभी रचनाएँ ठीक तरह से छाँट कर छापी नहीं जाती। छाँटने की बात, खुद को बड़े माननेवाले लोग मानेंगे भी नहीं। इसलिए उनकी रचनाएँ, तमाम कोशिशों के बावजूद, अपने ध्येय के निकट तक पहुँच नहीं पाती हैं। बार बार एकतरफा प्रस्तुत होने से स्त्रीविमर्श, दलित विमर्श के नाम पर निकलनेवाले काफी रचनात्मक कार्यों में दूरदर्शिता का अभाव खलता है। अत: रचनात्मक गतिशीलता वेगमयी दुनिया में प्रभाव डालने के अनुरूप नहीं हो पाती है। स्त्री की होने से कोई रचना स्त्री-विमर्श सम्बन्धी मानी जाती है तो उसका अर्थ यह भी है कि लेखिका केवल एक 'जेंडेर्ड ओब्जक्ट' है, उनके परे उसके व्यक्तित्व व मनुष्यत्व के पक्ष नहीं हैं। हर चीज में राजनैतिक पूर्वग्रह से बौद्धिक या संवेदनात्मक अन्तर्विरोध निकलता है। ज्ञान, बुद्धि एवं संवदेनात्मक सन्तुलन में ही बहुआयामी आलोचनात्मक रचना निकलेगी। ऐसा प्रयास जीवित रहेगा और समयानुसार अपनी क्षमता बरकरार रखेगा। साहित्यिक विशेषज्ञता से बढ़ कर, समकालीन आलोचना के लिए बहुज्ञता एवं अन्तरानुशासिकी की जरूरत है। इस समय में एकांगी सम्बद्धता से रचनात्मक अभियान सम्भव नहीं होता। प्रभाव क्षेत्र के निर्माण में यह सहायक रहता होगा। पर पाठक, लोकोन्मुखी साहित्यिक संस्कृति के इतिहास के समालोचक भी हैं।

आज भी आलोचनात्मक चेतना सक्रिय है, यह जारी रहेगी। क्योंकि चिन्तन-मनन के अलावा मनुष्य का जीना मुश्किल है। संकट इतना है कि आलोचना के नाम पर शब्दजालों का समान्तर जंजाल निर्मित किया जा रहा है। काफी श्रम करके काम करनेवाले राहों के अन्वेषी रचनाकार, अध्यापक एवं आलोचक बहुत कम रह गये हैं। जीवन, रचना एवं भविष्योन्मुखता के सम्मिश्रण में आलोचनात्मक प्रयास में सन्तुलन मिलता है, पर यह बड़ा संघर्षपूर्ण परिणाम होता है। रचना, आलोचना एवं शोध के आगे यही सबसे बड़ा संकट है। शंका नहीं कि रचना, आलोचना तथा साहित्यिक शोधकार्य में स्वतन्त्र एवं साहसिक हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ खुली रहती हैं।

❑

साम्प्रदायिक हिंसा और कानून

बिनीस मरयम



यूपीए सरकार ने साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिए जिस विधेयक का प्रस्ताव कियाहै, अगर यह पास हो जाता है तो ना सिर्फ धार्मिक अल्पसंख्यकों बल्कि भाषाई अल्पसंख्यकों को भी राहत मिलेगी।



लेखिका जेएनयू नई दिल्ली में शोधार्थी हैं।
binish.maryam@gmail.com
+919899671359

यूपीए सरकार ने साम्प्रदायिक हिंसा और लक्ष्यंकित हिंसा की घटना पर कार्रवाई के लिए विधिक संरचना को मजबूती देने के लिए ''द कोम्यूनल विओलेंस (प्रिवेंशन, कण्ट्रोल एंड रिहेबिलिएशन ऑफ विक्टिम्स बिल 2005'') प्रस्तावित किया। यद्यपि यह बिल राज्य सभा में है लेकिन मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने, प्रभावित अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधियों ने इस बिल का विरोध प्रकट किया और बिल की त्रुटियों को रेखांकित किया। उनकी मनोव्यथा के प्रत्युतर में यूपीए टू ने विधेयक के ड्राफ्टिंग का कार्य 'राष्ट्रीय सलाहकार समिति' को दिया। दो सक्रिय सदस्य फराह नकवी और हर्ष मन्दर ने सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ एक ड्राफ्ट तैयार किया। डेढ़ साल के प्रयास के बाद ड्राफ्ट अंतिम रूप में नए नाम 'प्रिवेंशन ऑफ कम्युनल एंड टारगेडेट वॉयलेंस (एक्सेस टू जस्टिस एंड रेपरेशन) बिल 2001 के नाम से जाना गया है।

हम लम्बे दौर से चलने वाले बहस से भली भांति अवगत हैं कि यह एक बहुसंख्यक विरोधी बिल है एवं अलपसंख्यकों को खुश करने के लिए यूपीए सरकार का प्रयास है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि साम्प्रदायिक हिंसा से प्रभावित होने वाले लोग हर समुदाय के होते हैं परन्तु आंकड़े और अध्ययन दर्शाते हैं कि जातिगत हिंसा में धार्मिक अल्पसंख्यकों का सबसे अधिक नुकसान होता है। अध्ययन के उपरान्त कुछ उदाहरण यथा सिख विरोधी दंगा (1984), भागलपुर दंगा (1989), गुजरात दंगा (2002) और उड़ीसा का कंधमाल दंगा (2007) दर्शाते हैं कि पीड़ित मुख्यत: अल्पसंख्यक समुदाय के हैं। पिछले कुछ एक दशाब्दियों से यह गम्भीर समस्या रही है जिस पर रौशनी डालना जरुरी है।

सीटीवी (कम्युनल एंड टारगेडेट वॉयलेंस बिल) में सम्प्रदायवाद से पीड़ित की व्याख्या वैसे समूह से की गयी है जो किसी राज्य में एक धर्म या भाषाई अल्पसंख्यक या अनुसूचित जाति और जनजाति से सम्बन्धित हो। इस ग्रुप में बहुसंख्यक का कोई उल्लेख नहीं है। अत: किसी भी आम व्यक्ति के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वह इस विभेद के वास्तविक प्रयोजन को समझे। और इसको समझने के लिए भारत में हिंसा के इतिहास को समझना काफी

जरूरी है। 1991 की जनगणना रिपोर्ट के मुताबिक मुस्लिम अल्पसंख्यकों की तादाद 12.4 फीसदी थी लेकिन दंगा पीड़ितों में उनकी तादाद 80 फीसदी है। हाल के डाटा में हिंसा से पीड़ितों में मुस्लिम की संख्या 90 फीसदी है। इसाई विरोधी हिंसा में भी वृद्धि हुई ही है। साथ ही उनके विरुद्ध आयोजित हिंसा की भी घटना घटती है। दलित और आदिवासियों के विरुद्ध लगातार हिंसा होती रही है। अत: यह ड्राफ्ट इन तथ्यों को भली भांति गौर करते हुए हमारे समाज की ठोस वास्तविकता पर विचार करता है।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़े स्पष्टत: इसे प्रकाशित करते हैं कि प्रति वर्ष औसत 33594 और 5425 मामले रिपोर्ट किये जाते हैं। जिसमें अनुसूचित जाति और जनजाति से सम्बन्धित मामले शामिल हैं। उत्तर प्रदेश में बावजूद इसके कि दलित मुख्यमन्त्री है, दलितों के विरुद्ध अपराध बढ़े हैं। यह आंकड़ा 2005 में 5 फीसदी बढ़ा है। 2007 के 6628 मामलों की तुलना में वर्ष 2008 में कुल 6942 मामले हत्या, बलात्कार और अन्य अपराधों की रिपोर्ट हुई है।

मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार के प्रयासों के बावजूद बिहार की स्थिति बेहतर नहीं है बल्कि क्राइम ग्राफ में इजाफा हुआ है। 2005 में 1572 की तुलना में वर्ष 2008 में 2876 मामले दर्ज किये गये हैं। यद्यपि हरियाणा और दिल्ली की भी सामान स्थिति है। हालांकि दिल्ली सरकार ने दलितों, एससी, ओबीसी, अल्पसंख्यकों के कल्याण हेतु कई योजनाएं चलायी हैं लेकिन इनमें से 50 फीसदी फंड बिना खर्च हुए पड़ा है। हरियाणा जहाँ 19.5 फीसदी दलित जनसंख्या है वहाँ दलितों पर हिंसा के 227 मामले दर्ज हुए है। रिपोर्ट में इस तथ्य को उजागर किया गया है कि रिकॉर्ड में कम दर्ज किये गये अपराध जमीनी सच को प्रकट नहीं करते। 2007 में आंध्र प्रदेश में दलितों के विरुद्ध अत्याचार के मामले में प्रदेश का चौथा स्थान है।

2007 में एनसीआरबी रिपोर्ट के द्वारा दलितों के ऊपर उत्पीड़न के कई मामले दर्ज किये गये। जिसमें राजस्थान में 4174, कर्नाटक में 1844, महाराष्ट्र में 1166 मामले दर्ज हुए। उड़ीसा जहाँ दलित 17 फीसदी हैं एवं तमिलनाडु की स्थिति भी निराशजनक है। दलित स्त्रियों की नियति और भी बदत्तर है। इसिलिए भारतीय समाज के दबे कुचले तबके को अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह विधेयक एक लघु प्रयास है।

ड्राफ्ट बिल के क्लाउज 3 (ई) में 'ग्रुप' शब्द के अर्थ का बीजेपी ने विरोध किया है। विधेयक में ग्रुप की व्याख्या धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यकों या अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के रूप में की गयी है। विधेयक के आलोचकों का कहना है कि बहुसंख्यक समुदाय के विरुद्ध की गयी हिंसा को क्यों नहीं साम्प्रदायिक एवं लक्ष्यंकित हिंसा माना जाये?

बीजेपी का यह कहना कि यह बिल बहुमत धार्मिक समुदाय के प्रति अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा किये गये हिंसा पर विचार नहीं जताता है। हम जानते हैं कि इस बिल का उद्देश्य सामूहिक हिंसा को दबाना है और अधिकतर ऐसे दंगे धार्मिक अल्पसंख्यक या दूसरे कमजोर वर्ग के साथ ही हुए हैं।

एनएसी के सदस्य हर्ष मंदर का मानना है कि अल्पसंख्यक शब्द किसी भी राज्य में संख्या से सम्बन्धित है। उदाहरण स्वरुप एक बिहारी महाराष्ट्र या असम में क्षेत्रीय एवं भाषाई अल्पसंख्यक है जबकि एक हिन्दू भारत के सात राज्यों में अल्पसंख्यक है। जैसे पंजाब, उत्तर पूर्व एवं जम्मू कश्मीर। अनुसूचित जाति सारे हिन्दू हैं एवं कई अनुसूचित जनजाति भी हिन्दू है।

कांग्रेस प्रवक्ता मनीष तिवारी का कहना है कि ''अरुण जेटली बिल को एक साम्प्रदायिक मोड़ दे रहे हैं। मै पंजाब का रहना वाला हिन्दू हूँ और इस बिल के अन्तर्गत मैं पंजाब में माइनोरिटी हूँ और मुझे इस बिल द्वारा संरक्षण प्राप्त है।'' एक प्रासंगिक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि क्या पंजाब में साम्प्रदायिक दंगा हिंदू नहीं भड़का सकते हैं? इस पर तिवारी जी का कहना है कि अगर किसी भी राज्य में अल्पसंख्यक समुदाय दंगा फैलाते हैं तो उस पर रोक लगाने के लिए मौजूदा कानून ही काफी है क्योंकि मौजूदा कानून और व्यवस्था प्रणाली बहुमत विरोधी नहीं है। और अगर दंगा बहुसंख्यक द्वारा उकसाया गया है तो यह बिल वर्तमान कानून के साथ लागू कर दिया जायेगा।

बिल के समर्थन में केन्द्रिय मंत्री सलमान खुर्शीद का कहना है कि यह अल्पसंख्यक को सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है (भाषाई अल्पसंख्यक को शामिल करने का मतलब दबे कुचले बहुसंख्यक से है) और सामंजस्य के लिए संविधान के अन्तर्गत की जाने वाली कार्रवाई है यह असामनता की ओर जाना नहीं अपितु प्रभावी समानता का क्रियान्वयन है।

इस विधेयक का मूल उद्देश्य है अल्पसंख्यकों, दलितों, आदिवासियों के विरुद्ध संस्थागत तरफदारी को खत्म करना। भारत में जेनेरल टारगेटेड हिंसा से पीड़ित की दुर्दशा देखनी है तो हम पाते हैं कि दंगों के दौरान अधिकांश पीड़ित (सामान्यत: अल्पसंख्यक) अपने जान माल की सुरक्षा पुलिस से पाने में असमर्थ रहते हैं। कई उदाहरण ऐसे हैं जब पुलिस बतौर दोषी पाई जाती है। ओमर खालिदी ने अपनी किताब 'खाकी एंड एथनिक वॉयलेंस इन इंडिया: थ्री एस्सेस कोलेक्टिव' (2003) में इस तथ्य को उजागर किया है कि किस तरह पुलिस बल दंगों में पूर्वाग्रह ग्रस्त बर्ताव करते हैं। दंगा किसी ने भी फैलाया हो परन्तु मुस्लिम समुदाय सबसे ज्यादा नुकसान उठाता है। एक भी पुलिस अधिकारी को उसकी कर्तव्यहीनता के लिए सजा नहीं मिली है। इसीलिए बिल का मुख्य उद्देश्य संस्थागत प्रणाली की जिम्मेदारी नियुक्त करना है।

वरिष्ठ पुलिस अधिकारी, नौकरशाह और मंत्रीगण जो शहर, राज्य और देश के सभी वर्गों से रिपोर्ट प्राप्त करते हैं, यथा तत्काल सुनिश्चित नहीं कर पाते कि लक्ष्यंकित अल्पसंख्यक सुरक्षित हैं, पीड़ितों के विरुद्ध उकसाने वाली भाषा का प्रयोग किया जाता है, महिलाएँ जिनका बलात्कार हो जाता है, बड़ी मुश्किल से उनपर ध्यान दिया जाता है। राहत शिविरों में दंगा पीडितों की स्थिति और दयनीय होती है। पीड़ितों को अधिकारियों के समक्ष मृत्यु, घायलों एवं सम्पत्ति की बर्बादी की क्षतिपूर्ति के लिए वर्षो संघर्ष करना पड़ता है। हिंसा को हवा देने वाले बच निकलते हैं क्योंकि पुलिस और सरकार सबूत नहीं जुटा पाती, छानबीन नहीं करती है। पूर्वाग्रह ग्रसित प्रोसेक्यूटर नियुक्त करती है। भारत में हुए बहुतेरे दंगों में यही हाल हुआ है। कर्नाटका में तमिल, महाराष्ट्र में हिन्दी भाषाई, हरियाणा और देश के अन्य भागों में दलित भली भांति जानते हैं कि यदि

उनपर आक्रमण हुआ तो स्थानीय पुलिस शायद ही उनके मदद के लिए आएगी।

हमारे संविधान की धारा 15(1) के आदर्शो पर यह बिल आधारित है जिसमें कहा गया है कि 'राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति, सेक्स और जन्म की जगह के आधार पर किसी भी नागरिक के खिलाफ भेदभाव नहीं करेगा।' फिर भी यह आश्चर्यजनक है कि पुलिस और अधिकारी सरलता से संविधान कि इस धारा का उल्लंघन करते हैं। यह इसलिए सम्भव है क्योंकि वे जानते है कि न तो कानून, न ही उनके ऊपर के अधिकारी उनके विरुद्ध कार्रवाई करेंगे। इसलिए हमारी आवश्यकता है कि हमारे देश में एक कानून हो जो सुनिश्चित करे कि पुलिस, नौकरशाह और राजनेता वर्तमान कानून का पालन करें। दूसरे शब्दों में हमें एक ऐसा कानून चाहिये जो उनलोगों को दण्डित कर सके जो अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव रखते हैं।

बिल में नेशनल अथॉरिटी फॉर कम्युनल हार्मोनी, जस्टिस एंड रेपरेशन के गठन का प्रस्ताव है जो जिम्मेदारी सुनिश्चित करेगा। इसका कार्य संगठित, साम्प्रदयिक और लक्ष्यन्तिक हिंसा को फैलने से रोकना है। उचित अन्वेषण का अनुवर्तन करना और समुचित राहत, पुर्नवास और वैसे अन्य कार्य जो यह आवश्यक समझे करे ताकि साम्प्रदायिक सद्‌भाव कायम हो सके और सरकारी सेवकों के कार्य की समीक्षा भी हो पाए। इसे सिविल कोर्ट की शक्ति प्रदान की गयी है जो किसी को कोड ऑफ सिविल प्रोसेड्यूर 1908 के अधीन न्यायिक जांच कर सकता है। यह क्लाउज विधेयक का प्राण है क्योंकि यह एक ऐसे शरीर की बात करता है जो लोगों को उत्तरदायी ठहराएगा अथवा यह जिम्मेदारी सुनिश्चित करता है।

इस निकाय का सर्वोत्तम अंश है कि यह कोई दंतहीन अनुमोदन करने वाली संस्था नहीं है, बल्कि सम्बन्धित सरकार या परिधिकार को सुझाव देने के बाद उन्हें रिपोर्ट एक महीने के अंदर नेशनल अथॉरिटी को भेजनी है जिसमें की गयी कार्रवाई या प्रस्तावित कार्रवाई का उल्लेख होगा। यह इस अर्थ में एक मूल संकेत है कि पूर्व के कमीशन इन्क्वायरी रिपोर्ट में अनिवार्य प्रतिउत्तर की व्यवस्था नहीं थी। इसके अतिरिक्त अब केंद्र सरकार, राज्य सरकार सरकारी सेवकों को हर स्तर पर नेशनल अथॉरिटी द्वारा जारी अनुमोदन पर उचित कारवाई करनी होगी तथा की गयी कार्रवाई 30 दिनों के अन्दर भेजनी होगी। सम्पूर्ण विधेयक को यह बात गम्भीर एक आकार देती है ताकि साम्प्रदायिक हिंसा के प्रतिकार की जिम्मेवारी और जवाबदेही किसी संगठित संस्था के कंधों पर डाली जाये जिसकी पहले कमी थी।

साम्प्रदायिक हिंसा के अनुभव तथा साम्प्रदायिक हिंसा की बड़ी घटनाओं की जांच प्रतिवेदन से यह परिलक्षित होता है कि अल्पसंख्यक के विरुद्ध हिंसा एक सुनियोजित किर्यान्वियन है। अत: इस तरह के उकसावे के पीछे के राजनेता भी विधेयक की परिधि में आ जाएंगे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि बिल के अन्तर्गत कमजोर समुदाय के दुष्प्रचार करने पर कार्रवाई की जाएगी। साथ साथ उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक बहिष्कार से बचाया जाएगा। यह विधेयक सारे संवेदनशील क्षेत्रों को समेटने का प्रयास करेगा। सामान्यत: विधेयक का कहना है कि कोड ऑफ क्रिमिनल्स प्रोसेड्यूर 1973 का प्रावधान इस विधेयक पर लागू होता है। डीएसपी रेंक के पुलिस अधिकारी रिलिफ कैंप की स्थापना के एक सप्ताह के अन्दर अनुसन्धान के लिए जाएंगे, साथ ही यौन हिंसा के मामले में अनुसन्धान महिला पुलिस अधिकारी द्वारा किया जाएगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी अपराध से सम्बन्धित सबूत की वीडियोग्राफी या फोटोग्राफी की जाएगी। फिर भी यदि कोई पीड़ित अनुसन्धान की पद्धति यथा पक्षपातपूर्ण रवैया/स्पष्टता से खिन्न हो तो उसे अधिनियम के अधीन नेशनल अथॉरिटी या अधिनियम के अधीन गठित राज्य प्राधिकार से शिकायत करने का अधिकार है।

दूसरी बात जिसका ख्याल यह बिल रखता है वह है संगठित और लक्षित हिंसा से प्रभावित लोगों को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति। बिल में कम्युनल एंड टारगेटेड वॉयलेंस रिलिफ एंड रिहेबिलिएशन फंड की स्थापना की बात की गयी है जिससे क्षतिपूर्ति का तत्काल वितरण होगा। और बिल जब राहत क्षतिपूर्ति की बात कहता है तब इसमें सभी ग्रुप के लोगों को शामिल कर लिया जाता है जो मानसिक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, और मौद्रिक हानि का शिकार हुए हैं। इसमें यह भी प्रावधान है कि जब संगठित, साम्प्रदायिक और लक्ष्यित हिंसा होती है तो, राज्य सरकार को सुरक्षित जगह में सभी लोगों के लिए रिलिफ कैंप की स्थापना करनी होगी। विधेयक का एक मानवीय पहलू यह है कि इसमें छोटी छोटी बातों का ख्याल रखा गया है।

विधेयक का सबसे मजबूत पक्ष है कि राज्य को यह सुनिश्चित करना है कि हिंसा से पीड़ितों, दबे कुचले वर्ग को शामिल करते हुए, उनके पुनर्निवास तथा पुनर्स्थापन का उत्तरदायित्व ले और देखे कि पीड़ित लोगों का घटना के बाद बहिष्कार तो नहीं होता है।

इस बिल में आगे केंद्र सरकार की भूमिका का भी उल्लेख है जिसमें सभी राज्यों से राष्ट्र के हर हिस्से में हर तरह की हिंसा और बाहरी बाधाओं और आक्रमण से विविध प्रान्तों की रक्षा करना है। (अनुच्छेद 355)। सकारात्मक बात यह है कि निकायों से यह अपेक्षा नहीं की गयी है वह दंगे के बाद की स्थिति पर कार्य करे अपितु उसे दंगा पूर्व स्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है। अत: उन्हें इस विधेयक के अन्तर्गत दंगा रोकने का हरसम्भव कार्य करना है।

इस विधेयक को पूरे देश में मान्य होना चाहिए क्योंकि इसमें सभी अल्पसंख्यकों, न केवल धार्मिक बल्कि भाषाई और क्षेत्रीय के लिए प्रावधान किया गया है, ऐसे सात राज्य हैं जहाँ हिन्दू अल्पसंख्यक हैं जम्मू और कश्मीर, पंजाब, मिजोरम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश तथा लक्षद्वीप। एनएसी ने विशेष अनुमोदन किया है कि विधेयक का विस्तार जम्मू और कश्मीर में किया जाये ताकि कश्मीरी पंडितों को भी शामिल किया जा सके। इसमें इस बिन्दु का भी उल्लेख है कि उत्तर प्रदेश, बिहार के लोग जो महाराष्ट्र में है उनको भी बिल के अन्तर्गत सुरक्षा दी जाये।

अत: यह कहना सही नहीं है कि यह विधेयक अल्पसंख्यक को खुश करने के लिए है बल्कि इसका उद्देश्य भ्रष्ट बेइमान और लचर पुलिस व्यवस्था को ठीक करना है और इससे संगठित हिंसा के समय में धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के बीच भेदभाव को खत्म करना है। ❑

L=h&foe'kZ

उड़ानें पंख फड़फड़ाने लगी हैं

रंजना श्रीवास्तव

L=kh dk reke me ?kj <<uk tkjh jgkA ek;d okyk u dgk fd vc rjk ?kj l l jky g vkj l l jky okyk u dgk T;knk ckyxh rk ge r> viu ?kj l fudky nxA cpiu lh yMdh le> gh ugh ik;h fd vkf[kj mldk ?kj g rk dgk g\



Loxh;k verk ihre dh bl dforK l viu ckr dh 'k#vkr djuk pkgxh fd-------- ^^eu tc rjh lt ij ij j[kk Fkk@e ,d ugh nk Fkh@,d leph C;kgh vkj ,d leph Dokjh@rj Hkkx dh [kkfrj e> ml Dokjh dk dRy djuk Fkk@eu dRy fd;k Fkk@;g dRy tk dkuuu tk;t gkr g@flIiQ mudh ftYyr uktk;t gkrh g------------** vkj ;g dRy gj vkjr d tehj dk fgLlk cudj mldh ftUnk lklk dk niQu dju d fy, lk;klr FkkA irx] dkxt dh uko] xfM;&xMM dk [ky] lkou d >y] ckfj'kk dk mrkoykiu] unh lh ppyrk vkj ygjk lk mrkoykiu lc dk lc [okc cur tku dh etcfj;k e 'kkfey gkrk x;kA og ?kj tgk gekjk cpiu èkku d ikèk dh rjg jkik x;k] ok vkxu tk gekjh igpku dk iek.k i=k Fkk] ml vyfonk dgu dh dok;n bruh rt Fkh fd dkb loky mNkyu dh fgekdr Hkyk dl dj ldrk Fkk\ fdruk nnukd etj Fkk fd ,d ftUnk liu dk cnnh l dpyk x;k vkj miQ rd u dju dh fgEer gee tcju Hkjh x;hA gekjk lc dN NV jgk Fkk vkj ge viu mtMu dk viu clu l tkMu d fy, etcj fd, tk jg FkA vj] dlh fl;klr g vkidh gtjvkyk fd gekjh cfLr;k mtkMh tk, vkj ge mld f[kykiQ vkokt rd u mBk,! eku x; ge fd vki ,d 'kkfrj f[kykMh g tk viuh gkj dk Hkh viuh thr cuk ldr gA vkid bl lkerh guj dk lykeA vkid 'kkfrjiu dk gekjh Hkkyh&Hkkyh fcjknjh dl le> ldrh Fkh Hkyk\ vkj fiQj ,d yEch dn] u; ?kj d bl u; liQj d nkjkuA 'kknh u gel gekjk ?kj o cpiu Nhudj cM gku dh ltkvk d lin dj fn;k vkj bl rjg ,d yMdh dk u;k tUe gvkA irk ugh fdl rjg dk tUe Fkk ;g tgk iy&iy gku okyh 'kfeUnxh l ge :c: gkuk iMkA

vkj bl rjg L=kh dk reke me ?kj <<uk tkjh jgkA ek;d okyk u dgk fd vc rjk ?kj lljky g vkj lljky okyk u dgk T;knk ckyxh rk ge r> viu ?kj



लेखिका कवयित्री और 'सृजनपथ' की सम्पादक हैं।
ranajananishant.@yahoo.co.in
+919933946886

l fudky nxA cpu lh yMdh le> gh ugh ik;h fd vkf[kj mldk ?kj g rk dgk g\ lrkyh dof;=kh fueyk iry fy[krh g------^^D;k re tkur gk@i#"k l fHkUu @,d L=kh dk ,dkUr\@?kj] ie vkj tkfr l vyx@,d L=kh dh mldh viuh tehu@d ckj e crk ldr gk re\@crk ldr gk@lfn;k l viuk ?kj ryk'krh@,d cpu L=kh dk@mld ?kj dk irk\------** vkj tl&tl mldh ftEenkfj;k c<rh x;h] mldh dn etcr gkrh x;hA mldh viuh 'kDy mld vkbu dh ljgn l ckgj gkrh x;hA tc rd ge gekjh dn d ckj e edfEey tkudkjh ugh Fkh ge viu nMc e gh viu n%[kk dk jkuk jkr jgr FkA viuh fdLer dk dklr jgr Fk fd [knk u ge vkjr D;k cuk;kA vkidh pkyckft;k gekjh lkjh vPNkb;k dk gekjh dfe;k cukdj dN ,l ipkj fd;k djrh Fkh tl fd tehu dk dkb mtMk gvk uD'kk gekjh gfl;r dh èkfT't;k mMk jgk gkA vDyeUnh vkie dV&dVdj Hkjh gb FkhA vki [knk cudj iQly lukr Fk vkj ge pipki mu ij vey dju dh dkf'k'kk e tV tkr FkA ; iQly èkhj&èkhj lekt dh vUn:uh cukoV e 'kkfey gkr x; vkj ink] dn o xykeh vkjr dh rdnhj cudj ml gj vkj l tdMu yxhA ink gku l ydj cM gku rd vkj fookg l ydj vkf[kjh liQj rd ge vkid b'kkjk d xyke Fk vkj vkid jgekdje ij viuh lklk dk O;kikj djr jgA gekj fy, D;k lgh Fkk vkj D;k xyr] ; lkpuk vkidk dke Fkk gekjk drb ughA vki viu lLdkjh iQrok dh vkM e ge gekj èke l tkMr jgA ?kj] ifjokj] cPp o ifr lcdh lok o lgu'khyrk vkjr dk èke o iQt Fkk en dk dkb èke ugh Fkk tk vkjr d lekukUrj [kM gkdj ,d nkLr dh rjg mldk gkFk FkkerkA ?kj dh l[r o dBkj nhokjk d chp clrh Fkh gekjh nfu;kA mldk ckgj dh èki] gok] ckny] ckfj'k] nfj;k] leUnj l dkb [kkl igpku cu gh ugh ldrh Fkh D;kfd gekj Hkhrj vktknh uke dk ifjUnk viu ijk dk [kkydj mMu dh dkf'k'k dj ldrk FkkA gekj vUnj dh yMdh viuh ykylkvk dh xBjh [kky viu euilUn jxk l :c: gku d fy, vkleku dh lj dk fudy ldrh FkhA ,d yMdh viu gku ij fdl rjg vkj fdl gn rd 'kfeUnk gk] c[kch tkur Fk vkiA pfd tTckr vkid fgLl dh pht ugh Fkh blfy, vkidk fnekx viuh dkcfy;r ij brjkrk gvk gekjh lj{kk o fgiQktr d Åy&tyy dkuu cuku e ekfgj FkkA vkiu viuh reke vufrdrkvk dk ufrd cuku d fy, ml gekjk iQt crkdj gekj fgLl e< fn;kA okg j! blkuh ijojfnxkj] ge rk ,l ej feV vki ij fd vkidk gh [knk cuk fn;kA njvly tTckrh gkuk Hkh vjy njt dh codfiQ;k e 'kkfey g D;kfd geu vkil dHkh ugh iNk fd tk vkid fy, lgh g og gekj fy, xyr dl g\ ;gk rd fd gekjh dk[k Hkh vkid gku dk lcr nuk iMrk Fkk ugh rk ml dkb tk;t ekuu d fy, r;kj gh ugh Fkk vkj vkt bl bDdhloh lnh e Hkh bUgh fu;ek e cèkh g vkjrA vki fdlh dk viuh vkykn cukdj lk'k dj rk dkb Hkh vkil mldh ek d gku ;k u gku dk iek.k ugh ekxxk ok firk d lkFk edfEey rkj ij tk;t Bgjk;k tk,xk ;kuh gekjh dk[k dh bll cMh cbTtrh vkj D;k gk ldrh g vki gh crk, u gtjA

vkiu gekj ftLe dh fgiQktr o igjnkjh nkuk dhA pkg vki firk jg] Hkkb jg ;k fiQj [kkfoUnA gekjh i<kb&fy[kkb ij ikcfUn;k yxk ge egiQt j[ku dk iQt c[kch fuHkk;kA vkj fiQj vki gh gekjh igpku cur py x;A vki dh tkr] gekjh tkr] vkidk etgc] gekjk etgc] vkidk ljue] gekjk ljue] vkidh ilUn&ukilUn] gekjh ilUn&ukilUnA vkidk tk vPNk yxk geu ogh idk;k o f[kyk;kA vkiu gekjh igpku] gfl;r o lf['k;r ij ,l rky tM fn, fd ge vkidh nfu;k o gfl;r dh fgiQktr d fy, or] R;kgkj] itk&ikB] jkt vkj uekt dh nfu;k e my>r py x;A vkiu gekj R;kx dk gh gekjk guj cukdj i'k fd;kA [kc efV;keV fd;k vkiu geA ,d dRy dju oky dh vku&cku vkj 'kku dk ge viuh vku&cku vkj le> rk nfu;k ge cf¼eku dl dgxh Hkyk] codiQ gh ekuxh uA blh lUnHk e rjUue fj;kt dh igpku dfork dk ftØ djuk pkgxh fd -----------^^ml viuh igpku ij @bruk ukt g @fd og e> ugh igpkurk@og dgrk g@mldh igpku gh g ejh igpku@vkj bld vykok @ejk dkb otn ugh g eefdu@fd@mldh ek dh igpku Hkh @mldk cki Fkk@vkj lcdh ekvk dh igpku@lcd cki gkr g@exj@e viuvki dk igpkurh g@viu ek cuu vkj mld cki cuu d cgr igy l@og Hky gh e> ij@viuh igpku Fkkirk g@exj e ml@viuh igpku ugh nxh---------** ;kuh ge vDy vku e Hky gh le; yxk gk] ij tc vDy vk;h rk lkjh le>k dh i[kfj;k vkfgLrk&vkfgLrk [kyu yxhA geu viu ftLe gku dh codfiQ;k dk vyfonk dg fn;kA mldh ikdhtxh dh otgk dk viuh vDy d pjkx l jk'ku gku fn;kA gel fd, tku oky ekufld vkj ftLekuh cykRdkjk u ge vkj etcr cuku dh rjdhc lkp yhA ble o ykx (en) tk gekjh dnk dk egll dj jg Fk vkj gekj 'kk"k.k l vkgr o ij'kku Fk mUgku Hkh fe=kor ge lgkjk fn;kA gekjh T;knfr;k dk viuh dye dh jk'kuh dk mtkyk lkikA dgr g u fd oDr djoV cnyrk g vkj lÙkk, viuh igpku [kku yxrh g] T;knfr;k cgr nj ugh fVdrhA vkt Hky gh cykRdkjk dh l[;k c<h gk ij dkb yMdh ml viu nkeu dk nkx le> dHkh Hkh viuh ftUnxh ugh dcku djrhA ftl fnu og cykRdkjk ij Fk djd mll iHkkfor gkuk NkMxh ml fnu cxj dkuu d gh bl f?kukuh ekufldrk dk [kkRek gk tk;xkA geu ftLe dh vktknh dk lgh eryc le>k vkj ml ydj gku okyh fpUrkvk l vktkn gkr py x;A ol Hkh ge cxj bll eDr g, vktknh fey Hkh ugh ldrh FkhA vki [kn gh lkp fd cykRdkj dju okyk en rk ni e pj jgk vkj yMfd;k u viu cnu dk ukikd

le> vkRegR;k, dh] rk bldk eryc D;k Fkk gekj [knkvk\ vkiu ge viuk uke] tkfr] #rck gh ugh fn;k lgkx d uke ij dN fpgu ndj&(flUnj] pMh o fcN,] dhy vkfn) ;g tkfgj dj fn;k fd gekjk ltuk&lojuk rd vkidh gfl;r o otn dh fu'kkfu;k gA vki tc nfu;k l fonk g, rk ge] vkidh foèkok, cudj lkj cuko& kxkj l vyx dj fn, x;A ;gk rd fd vPN [kku&iku o eukjtu rd lA bl rjg ge ftUnk gh ekj fn, x;A geu vkidk ?kj ltk;k] vkidh reke t:jrk dk /;ku j[kk ij ge ckr&ckr ij ftYyrk d flok vkj dN Hkh ulhc ugh gvkA ,d L;kg vèkjk vkj VVk gvk eu fy, thuk Hkh dkb thuk g D;k\ m"kk mikè;k; fy[krh g-------^^FkkM l@>dr g, bl vkdk'k e@vxj nk iy mMu dk fey@rk tkvk@dcy g@rEgkjh lHkh 'kr@tkvk dcy g@bfrgkl o Hkxky dh lkjh viQokg------** ij vki Hkyk ge bruk ldu o pu dl n ldr Fk\ vkidk ni gh vkidk viu en gku dk x:j lki dj gekjh vkj l eg iQj yu d fy, rkdhn djrk jgrk FkkA vkt tc lkpr g rk cgn gjr gkrh g fd gekjh ekvk] nkfn;k ,o cguk u dl&dl d"Vk dk lkeuk fd;k gkxk vkj ifjokj dk cpk, j[ku dh tík tgn e viuh dckfu;k nh gkxhA mUg Hkh jk'kuh dh ehukj t:j ikxy cukrh jgh gkxh] ckfj'kk vkj ckny d chp dMdrh fctfy;k dk tk'k&[kjk'k mue Hkh i[k ilkju dh mEehn Hkjrk jgk gkxkA nfu;k d jLek&fjokt] lj&likV] uR;&lxhr] lk'k&if{k;k dh vktkn nfu;k d uD'k D;k mUg viuh vkj ugh [khprk gkx\ vkjr d ikl vktknh d uke ij ?kj d NkV&ekV iQlyk ij Hkh mudk ijk gd ugh Fkk rk tkfgj g fd vkjr d tgu e mld derjh dh ckr Bl&Bl djd fcBkb xb gkxhA ij vc mudh f[kMfd;k [kyu yxh g tkfgj g fd ljt mud vklekus d liQj dk Hkh mrkoyk gkxkA vc vkx dh dgkuh vxy ,ih lkM eA vkt dk flyflyk ;gh [kRe gkrk gA

❑

तुसली राम को अयोध्या प्रसाद खत्री सम्मान



प्रसिद्ध दलित चिन्तक व लेखक डॉ. तुलसी राम को उनकी आत्मकथा 'मुर्दहिया' के लिये वर्ष 2011 का लब्ध प्रतिष्ठित 'अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति सम्मान' वीरेन नन्दा ने दिया। प्रख्यात आलोचक प्रो. वीर भारत तलवार के द्वारा उन्हें प्रशस्ति पत्र एवं शॉल ओढ़ाया गया वहीं डॉ. रवीन्द्र कुमार 'रवि' ने स्मृति चिह्न प्रदान की। इस अवसर पर ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह रुपये की राशि सीमा नन्दा ने पुरस्कार स्वरूप दी।

सम्मान पाकर डॉ. तुलसी राम ने भाव-विह्वल स्वर में कहा कि 'मुर्दहिया' के लिए दिया गया सम्मान देश भर में मेरा पहला सम्मान है। अयोध्या प्रसाद खत्री जैसे बड़े साहित्यकार व भाषाशास्त्री के नाम पर मिले इस सम्मान को पाकर मैं गर्व महसूस कर रहा हूँ।

'दलित आत्मकथाओं और मुर्दहिया' विषयक गोष्ठी में डॉ. रश्मि रेखा व मनोज कुमार वर्मा के पढ़े गये आलेख के पश्चात् जे.एन.यू. से आये समाजशास्त्रो डॉ. मणीन्द्रनाथ ठाकुर ने मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए कहा कि 'मुर्दहिया' न केवल समाजशास्त्रियों के लिए सबक है बल्कि वह समाजशास्त्र के आधुनिकतम सभी सिद्धान्तों पर भारी है। उन्होंने कहा है कि यह दलित आत्मकथा प्रताड़ित समाज के सार्थक स्वर के रूप में कालजयी रचना साबित हो सकती है।

डॉ. ठाकुर ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा कि मुर्दहिया जैसी रचनाएँ जितनी अधिक होगी समाजशास्त्र का चिन्तन उतनी ही तेजी से बदल सकेगा। अनुभवजन्य ज्ञान को समेटे बगैर हाशिये पर खड़े समाज का हम भलीभाँति चित्रण नहीं कर सकते। डॉ. तुलसी राम की मुर्दहिया न केवल समाज के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगी बल्कि यह समाजशास्त्र में एक बड़ा हस्तक्षेप भी है।

मयूर रेस्टोरेंट के खचाखच भरे हॉल में आयोजित इस सम्मान-समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रो. वीर भारत तलवार ने कहा कि 'मुर्दहिया' दलित परिवेश, गरीबी एवं अकाल से जूझते आम जीवन को संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है। अकाल काल में अपने शौहर को नन्हें तुलसी राम द्वारा लिखवाई गई बाईस वर्षीय महिला की मार्मिक चिट्ठी का अंश 'मुर्दहिया' पुस्तक से उद्धृत करते हुए प्रो. तलवार की आँखें नम हो गई।

समारोह का आरम्भ सुश्री संसृति के वन्दना गायन से हुआ। अतिथियों का स्वागत प्रो. रवीन्द्र कुमार रवि एवं धन्यवाद ज्ञापन वीरेन नन्दा ने किया। इस मौके पर डॉ. नन्द किशोर नन्दन, डॉ. रेवती रमण, पूनम सिंह, डॉ. संजय पंकज, ब्रजभूषण पाण्डेय, डॉ. हमीदी, असद रिजवी, कामेश्वर प्रसाद, डॉ. पूनम सिन्हा, एम. अखलाक विनय कुमार, श्यामल श्रीवास्तव, डॉ. राकेश मिश्र, डॉ. डी.के. सिंह, प्रमोद कुमार आजाद, संजीत किशोर आदि मौजूद थे।

अब तक यह सम्मान कृष्णबलदेव वैद (2008), तद्भव (सं. अखिलेश)(2009) तथा शेखर जोशी (2010) को दिया जा चुका है।

–पंकज कर्ण

बोल : पाकिस्तानी समाज का नया चेहरा

पुखराज जाँगिड़

fluek tl iHkko'kkyh dyk ekè;e dk ldkjkRed mi;kx dl gk ldrk g] ^cky* blds vPNk mnkgj.k gA ikfdLrku e leL;kRed fluek ilUn fd;k tk jgk g ;g ikfdLrku tl n'k d fy, t:jh blfy, g fd ogk ykdrU=k dh tM m[kM pdh gA



'बोल के लब आजाद हैं तेरे/बोल जबां अब तक तेरी है/ तेरा सुतवां जिस्म है तेरा/बोल कि जां अब तक तेरी है।'

–फैज अहमद फैज

शोएब मंसूर निर्देशित फिल्म 'बोल' (2011, जिओ फिल्म्स, भाषा-उर्दू व पंजाबी) पाकिस्तानी सिनेमा में हो रहे बदलावों को, वहाँ के पारिवारिक जीवन की परेशानियों को बहुत करीब से दिखाती है। फिल्म के केन्द्र में सामाजिक परिवेश और अर्थ की समस्या से उपजा पारिवारिक तनाव है। फिल्म पुरुषप्रधान समाज में मजहब के नाम पर औरतों पर हो रहे अत्याचारों पर सवाल खड़े करती है। हकीम साहब (मंजर शेहबाई) अपनी बीवी (जैब रहमानी) से कहते हैं-'खुदा ने आपको दो ही तो हुनर बख्शे हैं, एक स्वादिष्ट खाना पकाना और दूसरे बेटियाँ पैदा करना।' हर पुरूषवादी समाज स्त्री को इन्हीं दो रूपों में देखता-स्वीकारता है। रूढ़िवादी हकीम साहब के लिए पन्द्रह बच्चों को जन्म देने वाली उनकी बीवी (जैब रहमानी) बच्चे पैदा करने की मशीन से ज्यादा कुछ नहीं है। (पन्द्रह बच्चों में केवल सात बेटियाँ और एक उभयलिंगी किन्नर-पुत्र सैफी (अम्र कश्मीरी) ही जीवित बचते है। इसके विपरित उनके पड़ोसी परिवार में केवल एक बेटा व एक बेटी है और दोनों डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे हैं।) 24 जून 2011 को पाकिस्तान में तथा 31 अगस्त 2011 को भारत में प्रदर्शित 'बोल' मनीष झा की 'मातृभूमि' (2003) की याद दिलाती है। 'बोल' शोएब मंसूर की दूसरी फिल्म है। फिल्म बताती है कि पाकिस्तानी फिल्मकारों की नयी पीढ़ी अपने देश को किस तरह देखती है। शोएब मंसूर आतंकवाद और इस्लाम पर बनी फिल्म 'खुदा के लिए' (2007) जाने जाते हैं। उनकी फिल्में पाकिस्तानी सिनेमा के सुनहरे भविष्य की ओर आशान्वित करती है।

फिल्म की शुरूआत में कैमरा जेल में कैद जैनब (हुमैमा मलिक) और उसकी जैसी कई स्त्रियों पर केन्द्रित हो जाता है। इनमें अधिकांश वे है जिन्होंने धार्मिक और सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आवाज उठायी है। फिल्म फ्लैशबैक में चलती है, इसके बावजूद इसमें वर्तमान का अहसास बना रहता है। नायिका जैनब इसकी नैरेटर है, सो फिल्म उसी के दृष्टिकोण से आगे बढ़ती है। इसमें परम्परागत किस्सागोई स्थान पर आधुनिक 'मैं शैली' का



लेखक जेएनयू नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में शोधार्थी हैं।
pukhraj.jun@gmail.com
+919968636833

इस्तेमाल किया गया है। फिल्म का अन्त यथार्थवादी है। फिल्मकार कहीं भी जैनब को फाँसी से बचाने के तर्क जुटाने की अयथार्थवादी कोशिश नहीं करते। इसमें मीडिया की ताकत का अहसास होता है। ऐसे समय में जब पाकिस्तान के पत्रकार (सलीम शहजाद) को मार दिया जाता है, पाकिस्तानी मीडिया की ताकत का अहसास अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पाकिस्तानी शासक वर्ग मीडिया से किस भाषा में बात करता है, फिल्म इसका एक पहलू है। फिल्म चिकित्सा की आधुनिक और पुरातन तकनीक के द्वन्द्व को भी दिखाती है। हकीम साहब लाहौर में दवाखाना चलाते है लेकिन चिकित्सा की आधुनिक शैली के सामने उनकी हकीमी प्रासंगिकता खोती जा रही है। भारत-पाकिस्तान- बांग्लादेश जैसे देशों के गाँवों का बड़ा सच आज भी वही है, पर शहरों में ऐसा नहीं है। फिल्म धर्म और विज्ञान के सम्बन्धों को रेखांकित करती है। इसमें बेटी के माध्यम से परिवार-नियोजन, नसबन्दी आदि की चर्चा की गई है। फिल्म स्त्रियों व उभयलिंगियों को कमतर समझती मानसिकता का तार्किक और वैज्ञानिक जवाब देती है। इस तरह रूढ़िवादी हकीम साहब के घर में उभयलिंगी सैफी का जन्म पुरूष-सत्ता की नपुसंकता का प्रतीक बन जाता है। फिल्म पाकिस्तान में व्याप्त भ्रष्टाचार पर हमारा ध्यान खिंचती है। फिल्म में पाकिस्तानी पुलिस अधिकारी हकीम साहब को किन्नरपुत्र सैफी की हत्या के आरोप से से बचाने के लिए रिश्वत की माँग करता है।

संगीत हमेशा कट्टरपन के खिलाफ रहा है इसलिए फिल्मकार संगीत के माध्यम से उस पर चोट करता है। 'खुदा के लिए' में शोएब मंसूर ने यह बताने की कोशिश की थी कि मौसिकी (म्युजिक) इस्लाम में हराम नही हैं। उनकी यह कोशिश 'बोल' में भी जारी रहती है। फिल्म में सातों बहनों में एक गायिका है। गायन उसकी मुक्ति का माध्यम है। सबके सपने उसकी मुक्ति से जुड़े हैं। लेकिन एक बात 'बोल' में अखरती है कि क्या आधुनिकता का मतलब सिर्फ पश्चिमी पहनावा या पश्चिमी संगीत (फिल्म में पॉप संगीत) ही है? क्या उसके बगैर प्रगतिशीलता दिखाना सम्भव नहीं है? बहरहाल फिल्म का संगीत शोएब मंसूर, आतिफ असलम, सर्माद गफूर और सज्जाद अली ने दिया है। फिल्म में शोएब मंसूर, इमरान रजा, अयूब खावर, सज्जाद अली और अली मोइन के लिखे छः गीत है ओर सभी 'लोक' के नजदीक है। इनमें 'होना था प्यार...', 'दिन परेशां है...' और 'दिल जानिया...' उल्लेखनीय है। फिल्म के संवाद दिल को छूने वाले है-'डंडे से नहीं तर्क से लाजवाब कीजिए!'

फिल्म कला और धर्म के सम्बन्धों को स्पष्ट करती है। कला का कोई धर्म नहीं होता इसलिए फिल्मकार इसके माध्यम से धर्मांधता पर चोट करते हैं। हकीम साहब का किन्नरपुत्र सैफी हवेली की दीवारों पर अंकित हिन्दू शैली की कलात्मक चित्रकारी के साथ बड़ा होता है। वह प्रतिभाशाली चित्रकार है लेकिन उसकी प्रतिभा घर की चारदीवारियों में कैद होकर रह जाती है। अन्ततः उसकी चित्रकारी ही घर से निकलने का माध्यम बनती है। फिल्म इस्लाम में व्याप्त बुराइयों (गैरबराबरी या जातीय भेदभाव) पर चोट करती है। फिल्म में कंजरों के बच्चों को 'कुरान' पढ़ाने के लिए कोई मौलवी तैयार नहीं होता। हमारे यहाँ पसमांदा मुस्लिमों का संघर्ष इसी तरह का है। शिया-सुन्नी-विवाद फिल्म में अनमेल विवाह प्रसंग के साथ आता है। हकीम साहब अपने पड़ोसी मित्र के बेटे से अपनी बेटी की शादी से इसलिए मना कर देते है क्योंकि वो शिया है। शिया-सुन्नी-विवाद से बचने के लिए अपनी लड़की के विवाह के लिए अपने हमउम्र (लड़का मुझसे कम उम्र का हो बस!) के लिए तैयार हो जाते है। फिल्म में नवीनता या मौलिकता का सृजन कंजर व किन्नर प्रसंग करता है, वरना यह एक डॉक्यूमैंट्री भी बन सकती थी। फिल्म जाने-अनजाने पाकिस्तानी 'कंजर' समुदाय की एक नकारात्मक छवि भी हमारे सामने रखती है। फिल्म में वह हमारे समक्ष एक 'समुदाय' के रूप में न आकर एक 'व्यक्ति' के रूप में आते है और वह भी उसका प्रतिनिधि चरित्र नहीं है। वह समाज से कटा हुआ है पर अपने जैसे बच्चों को अपने पास रखना चाहता है। फिल्म में एक साथ, एक तरफ बेटी का तो दूसरी तरफ पिता का निकाह सम्पन्न होता है। सिनेमेटिक लैंग्वेज की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण क्रॉस-कटिंग है। बैकग्राउंड संगीत परिवेश को अधिक गहराता है। फिल्मकार ने स्त्री-चेतना के निर्माण की प्रक्रिया को बारीकी से चिह्नित किया है। तबायफ मीना में स्त्री-चेतना नहीं है लेकिन हकीम साहब के साथ के दौरान वह लड़की के जन्म के साथ अनवरत चलने वाले शोषण के चक्र को समझने लगती है। संसाधनों के अभाव में पैदा करना गुनाह है। फिल्म में जैनब इसे एक यक्ष प्रश्न के रूप में उठाती है।

गरीबी और आबादी अलहदा नहीं है, दोनों एक-दूसरे से जुड़े है। इसलिए अगर मारना जुर्म है तो पैदा करना जुर्म क्यों नहीं है? यह हर उस रूढ़िवादी समाज के लिए एक सबक है जो बच्चों को जन्म देना तो अपना अधिकार समझते हैं लेकिन उनकी सही परवरिश, शिक्षा और संस्कारों से मुंह मोड़ते है। हकीम साहब सबसे ज्यादा शर्मिन्दा अपने किन्नरपुत्र सैफी के जन्म पर है जिसे फिल्मकार ने खूबसूरती से पर्दे पर उकेरा है। फिल्म धर्म के दोनों पहलू (सकारात्मक और नकारात्मक) दिखाती है। पितृसत्तात्मक और रूढ़िवादी हकीम साहब धार्मिक रूप से कट्टर हैं लेकिन बेईमान नहीं हैं और उनकी इस नैतिकता का आधार धर्म है। हकीम साहब हर बार एक से नहीं लगते, उनके चरित्र का भी विकास होता है, विशेषतः मध्यान्तर के बाद। फिल्म की खासियत यह है कि यहाँ स्त्रियों में चेतनशीलता के विकास के लिए कोई पुरूष सामने नहीं आता। पुरूष सहायक के रूप में है। स्थितियाँ उनके नियन्त्रण में हो या फिल्म उनके अनुसार चल रही हो, ऐसा नहीं है। उनमें इस चेतना का निर्माण परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से भीतर से हुआ है, इसलिए ज्यादा स्थाई है। जैनब की भूमिका निभाने वाली हुमैमा मलिक बताती हैं कि-'जैनब फिल्म में अपने परिवार के लिए आवाज उठाती है। मैं चाहती हूं कि सारी पाकिस्तानी औरतें ऐसी हों। हमारी संस्कृति औरतों को बहुत करने की इजाजत नहीं देता। लेकिन इस संस्कृति को बनाया भी तो हमने ही है। औरतों को कई चीजों की मनाही है पर कुरान पढ़ें तो उसमें ऐसी कई चीजों का जिक्र तक नहीं है। ये पुरुष प्रधान समाज है, लेकिन हम सारी जिन्दगी इसी तरह नहीं गुजार सकते।'

फिल्म इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि स्त्री-विमर्श को खड़ा करने के लिए यह धर्मशास्त्रों की बहस में नहीं जाती। बल्कि इसमें उनके प्रति नकार का भाव है। इसीलिए फिल्म में खलनायक कोई पात्र विशेष नहीं बल्कि धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता है। यह धर्मशास्त्रों से दूर इस्लाम की आधुनिक व्याख्या करती है। फिल्म किन्नरों (उभयलिंगियों) के सवाल को शिद्दत से उठाती है। फिल्म में 'किन्नर' के लिए

'खुसरा' (किन्नर का पंजाबी पर्याय) शब्द आया है।) खुद शोएब मंसूर ने कहा है कि-''पाकिस्तान जैसे समाज में औरत या हिजड़ा बनकर पैदा होना। इस विचार से ही मुझे डर लगता है। यह त्रासदी है कि धर्म का अर्थ और इसके मायने महिलाओं से शुरू होकर महिलाओं पर ही खत्म हो जाते हैं। अगर शहरों की पढ़ी-लिखी अमीर वर्ग की पाँच फीसदी महिलाओं को छोड़ दें तो समाज के लिए बाकी 95 फीसदी महिलाएँ किसी जंग के मैदान की तरह हैं जहाँ हम धर्म की पुरानी मान्यताओं को आगे बढ़ाने का काम करते हैं।'' खेल को धर्म के साथ जोड़कर देखने की गलत प्रवृति का चित्रण इसमें किया गया है-'जब पाकिस्तान और भारत में क्रिकेट मैच होता है तो सारा पाकिस्तान अल्लाह को दुआ करके अल्लाह को परेशान करता है और हिन्दुस्तान वाले अपने भगवान को। क्या यह अल्लाह तय करेगा कि अफरीदी शतक बनाएगा या सचिन रन आउट होगा। अगर ऐसा ही है तो वह मुए नास्तिकों का देश आस्ट्रेलिया 12 साल विश्व चैम्पियन क्यों हैं?'

फिल्म में दो समानान्तर व्यवस्थाओं के साथ-साथ कंजरों की तीसरी व्यवस्था भी है, जो अधिक प्रगतिशील दिखाई देती है। फिल्म में सामाजिक अस्वीकृति के बावजूद कंजर सामान्य जीवन जीता है। हकीकत में ऐसा नहीं है पर उसका छद्म बना रहता है। कंजर बाजार का प्रतिरूप है। बाजार प्रगतिशील नहीं अवसरवादी होता है। अवसरवादी बाजार या विज्ञान से उन्हीं चीजों को चुनते है जिसमें उसका लाभ होता है। 'कंजर' बाजार से स्त्री-पुरूष के जन्म में पुरूष के उत्तरदायित्त्व को चिह्नता है क्योंकि उसी में उसका लाभ है (एक अच्छी लड़की से दो-तीन नस्लें संवर जाती है)। सरोगेट पिता बनने के लिए हकीम साहब तबायफ मीना से निकाह करना चाहते है लेकिन कंजर विवाह संस्था को नकारते हुए कहता है कि-'मुझे खुद नहीं पता कि मेरा पिता कौन है?' यहाँ विज्ञान और शास्त्र की टकराहट इसे दिलचस्प बनाती है। शास्त्र बेटा या बेटी के जन्म के लिए स्त्री को तो विज्ञान पुरूष को जिम्मेदार मानता है। कंजर विज्ञान को तो हकीम साहब शास्त्र को मानते है। कंजर के पास कोई विशिष्ट धार्मिक पहचान या सामाजिक स्वीकृति नहीं है और शास्त्र उसे नकारता है, इसलिए वह विज्ञान की शरण में जाता है, जो सही दृष्टि है। हकीम साहब के पास अपनी विशिष्ट धार्मिक या सामाजिक पहचान है, इसलिए वह शास्त्र से चिपके है। लेकिन जब उन्हें हकीकत का पता चलता है, उनके नीचे से जमीन खिसक चुकी होती है।

सारी लड़ाई स्वीकृति-अस्वीकृति और अस्मिताओं के हरण की है। सिमोन बोउवार कहती है कि-'स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।' सैफी का जन्म किन्नर (खुसरा) के रूप में हुआ है और वह 'स्त्री', 'पुरूष' या 'खुसरा' में से कोई भी जीवन चुनने के लिए स्वतन्त्र है। लेकिन परिवार और समाज तय करता है कि उसे स्त्री, पुरूष या किन्नर बनना है? इस तरह नयी पहचान उस पर आरोपित की जाती है। पाकिस्तान में परम्परागत धार्मिक शिक्षा और आधुनिक शिक्षा, दोनों एक साथ चलती है और पूरे परिवेश में एक अजीब तरह का तनाव पैदा करती है। आजादी के 67 साल बाद भी भारतीय स्त्रियों को अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय जैसे विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय में प्रवेश के लिए संघर्ष करना पड़ सकता है तो पाकिस्तान में स्त्री-शिक्षा की स्थिति के बारे में सिर्फ सोचा जा सकता है। फिल्म शिक्षा व्यवस्था और उसमें होने वाले भेदभाव को लेकर सचेत है।

फिल्म में कहीं भी मैलेड्रामाई-नाटकीयता नहीं है जैसा कि हमारी फिल्मों में होता है। उनके दृश्य न तो आपस में जुड़े होते है और न उनके जुड़े होने की ठोस वजह होती है। केवल एक आकस्मिक-संयोग होता है, जिससे कहानी आगे बढ़ती है। पश्चिम में इसका उल्टा होता है, वहाँ घटनाओं या दृश्यों के पीछे गहरे मनोवैज्ञानिक कारण होते है। वही कार्य-कारण के रूप में फिल्म के दृश्यांकनों को क्रमबद्ध ढंग से आगे बढाते है। 'बोल' में घटनाओं के पीछे ठोस मनोवैज्ञानिक कारण है। हकीम साहब को बेटा चाहिए लेकिन होती बेटियाँ हैं। इस मनोवैज्ञानिक दबाव और पितृसत्तात्मक मानसिकता के कारण वह अपनी बेटियों को पढने नहीं भेजते, उन्हें घर तक सीमित रखते है। प्रत्येक घटना के पीछे संयोग नहीं ठोस कारण है और परिवेश समग्रता (टोटैलिटी) में आया है। फिल्म का दृश्य-संयोजन लाजवाब है। हकीम साहब अपनी बेटी जैनब को जूता फेंककर मारते है तो जैनब उसे पकड़ लेती है, वापस मारने के लिए नहीं बल्कि उसे उसकी वास्तविक जगह पर रखने के लिए और वह भी बहुत ही शालिनतापूर्वक। यह साधारण दृश्य असाधारण प्रभाव पैदा करता है। इसी तरह कैमरा तबायफ मीना और हकीम साहब के अतरंग दृश्यों (इनमें मीना एक्टिव है और हकीम साहब पेसिव है) को, उनके मानसिक अंतर्द्वंद्वों को बारीकी से पकड़ता है। अर्थ के स्तर पर यह भूमिकाओं की अदलाबदली है लेकिन निर्देशक इसे सिनेमेटिक लैंग्वेज में बदलने में सफल रहे हैं।

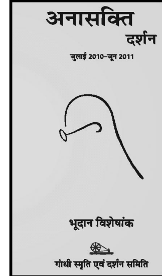
फिल्म का सम्पादन अरमुघन हसन ने किया है। यह उनकी कारीगरी ही है कि फिल्म 'पाकिस्तान सेंसर बोर्ड' में फंसती नहीं। कट्टरपंथियों की धमकियों के बावजूद फिल्म अपना काम कर रही है। पाकिस्तान के 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' (लाहौर) के विद्यार्थी इससे जुड़े रहे है। फिल्म की भाषा पंजाबी है जिसमें उर्दू का पुट है। 'बोल' के परिवेश में पंजाबी आम बोलचाल की भाषा है और उर्दू धर्म की या शास्त्र की भाषा है। विशेष रूप से विभाजन के बाद से पंजाबी वहाँ तीनों धर्मों (हिन्दू, मुस्लिम व सिक्ख) को मिलाने का काम करती रही है। जबकि इसमें एक भी हिन्दू पात्र नहीं है। जिस परिवेश में फिल्म का निर्माण हुआ है, उसमें ऐसा होना अखरता है। शहर के रूप में लाहौर का फिल्मांकन अच्छा बना है। फिल्म कट्टरपंथी हकीम साहब की भूमिका के लिए मंजर सेहबाई और जैनब की भूमिका में हुमैमा मलिक (उनकी यह पहली फिल्म है) के नायाब अभिनय के लिए याद की जाएगी। शफ्कात चीमा, जैब रहमानी, आतिफ असलम, माहिरा खान, ईमान अली, अम्र कश्मीरी और खुद शोएब मंसूर की संवेदनशील अदायगी इसे जीवन्त बनाती है। सिनेमा जैसे प्रभावशाली कला माध्यम का कैसे सकारात्मक उपयोग किया जाए, 'बोल' इसका अच्छा उदाहरण है। इसे देखने के बाद चीजों को देखने का हमारा नजरिया वही नहीं रहता जो पहले था। अच्छी फिल्में हमारी आलोचनात्मक क्षमता का विकास करती है, उसमें कुछ जोड़ती है, हमें सामाजिक परिपक्वता देती है। पाकिस्तान में 'समस्यात्मक सिनेमा' पसंद किया जा रहा है जबकि हमारे यहाँ स्थिति इसके विपरित है। सम्भव है 'बोल' के बाद आने वाली फिल्में पकिस्तानी सिनेमा को नयापन देगी। समस्याओं की जड़ पर चोट करने की दृष्टि से 'बोल' 'खुदा के लिए' से आगे की फिल्म है। फिल्म जितनी पाकिस्तान की है, उतनी ही भारत की भी है। ❑

उम्मीद की किरण

नेहा

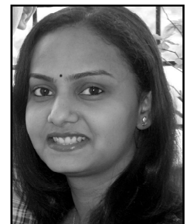
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, नयी दिल्ली की पत्रिका 'अनासक्ति दर्शन' का वर्तमान संयुक्तांक भूदान पर केन्द्रित है। दरअसल, भूदान आन्दोलन की 60वीं वर्षगांठ पर यह विशेषांक पाठकों के सामने है। पत्रिका को पढ़ने के क्रम में यह साफ हो जाता है कि भारत में भूमि-सुधार के आन्दोलन को लेकर दो तरह की राजनीतिक गतिविधियाँ चलाई गयीं। दोनों ही तरीकों को सफलता हाथ नहीं लगी। पहली धारा गाँधी दर्शन के 'सर्वोदय' से प्रभावित होकर फूटी और जिसका नेतृत्व विनोबा भावे ने किया। गाँधी का यह दर्शन रस्किन के 'अनटु दिस लास्ट' का भावानुवाद था। इस धारा के लोग भारतीय समाज में रचे-बसे दान की परम्परा को आधार बना कर गाँव-गाँव घूमते और ज्यादा जमीन वाले लोगों से भूमिहीनों को कुछ देने की याचना करते। खुद विनोबा भावे के शब्दों में -''जहाँ मैं दान लेता हूँ वहाँ हृदय-मंथन की, चित्तशुद्धि की, मातृ-भावना की, मैत्री की और गरीबों के लिए प्रेम की आशा करता हूँ। जहाँ दूसरों की चिंता की भावना जगती रहती है, वहाँ समत्वबुद्धि प्रकट होती है। वहाँ बैर-भाव टिक नहीं सकता। भूदान यज्ञ अहिंसा का प्रयोग है, जीवन-परिवर्तन का प्रयोग है।'' 'सबै भूमि गोपाल की' के सिद्धान्त से विनोबा की भूदान की धारणा पुष्ट हुई। दूसरी धारा अतिवादी वामपंथियों की है। वामपंथियों ने 'जमीन उसकी, जोते उसकी' सिद्धान्त वाक्य पर अपने आन्दोलन को विस्तार देने की कोशिश की।

पहली धारा को शुरुआती दौर में सफलता मिलती हुई दिखी और पहली पैदल यात्रा में विनोबा भावे को 200 एकड़ जमीन हर रोज दान में मिली। उनकी दूसरी पद यात्रा के दौरान उन्हें हर रोज 300 एकड़ जमीन प्रति दिन दान में मिलती रही। आन्दोलन से जुड़े लोगों को आन्दोलन सफल होता दिखा। लेकिन बाद में जब दान में मिली भूमि की सचाई सामने आयी तो वे निराश हुए। निराशा का यह स्वर प्रभात कुमार के लेख 'सर्वो भूमि गोपाल की' में जिक्र बंदोपाध्याय आयोग की रिपोर्ट (वर्ष 2008) में साफ-साफ दिखता है। रिपोर्ट के अनुसार बिहार में भूदान यज्ञ समिति



अनासक्ति दर्शन (जुलाई 2010-जून 2011)
प्रधान संपादक : मणिमाला
मानद संपादक- राजीव रंजन गिरि
प्रकाशक : गांधी, स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नयी दिल्ली

और सरकार के राजस्व विभाग की अकुशलता के कारण ज्यादा कुछ हासिल नहीं हो पाया। भूदान यज्ञ कमिटि को 6,48,476 एकड़ भूमि प्राप्त है। जिसमें से 2,55,343 एकड़ भूमि बंटी भी। 2,78,320 एकड़ भूमि वितरण योग्य नहीं है। कमिटी के पास 1,14,408 एकड़ भूमि बची हुई है। सरकारी महकमों की अकुशलता और अनिच्छा की बात पत्रकार अनीश कुमार को दिए गये एक साक्षात्कार में शुभमूर्ति कहते हैं -'भूदान ही नहीं, भूमिहीनों से जुड़ी भूमि की जो भी समस्या है वो नौकरशाही के जाल में पूरी तरह फंस गयी है, और चाहने के बावजूद निकलना कठिन है। जब तक कि एक 'पाराडाइम शिफ्ट' नहीं होगा तब तक बहुत मुश्किल है। एक तो ब्यूरोक्रेसी कोलोनियल जमाने की है। उसकी अपनी त्रासदी है कि काम होने ही नहीं दो, कुछ आगे बढ़ना है तो जहाँ चाहे उलझा सकते हो। जिसका स्वार्थ टकराता है वे इसे उलझा कर रखते हैं।'' भूदान आन्दोलन के तहत दान में मिली जमीन में बहुत बड़ा हिस्सा बंजर, पहाड़, पत्थर, नदी और नालों की जमीन है। यह जमीन अनुत्पादक थी। इस पर खेती नहीं की जा सकती थी। देने वालों की खोटी नीयत पर सवाल खड़ा करते हुए गाँधीवादी चिन्तक रजी अहमद अपने साक्षात्कार में कहते हैं कि कुछ लोग आज यह सवाल जरूर करते हैं कि जमीन देने वालों ने पहाड़, जंगल, पत्थर आदि दिया। जेपी और विनोबा ने, बैद्यनाथ चौधरी ने तो भीख मांगी थी। अब आपने खोटा सिक्का दे दिया तो क्या किया जाए, यह आपका कसूर है मांगने वाले का कसूर नहीं है। इस पुस्तक में शामिल डॉ. पराग चोलकर, कान्ति शाह, शिव कुमार मिश्र, प्रो. एल.एम. भोल, नरेन्द्र दुबे, प्रो. रामजी सिंह, विनोद शाही, उत्तम सिन्हा, सच्चिानन्द सिन्हा, कालिन्दी, डॉ. कृष्णस्वरुप आनन्दी, कंवल भारती, राजेश कुमार, सहित रजी अहमद के लेखों और साक्षात्कार में जाहिर की गयी चिन्ता वाजिब है। भूमि-सुधार का मसला हल किये बिना समाज में गरीब-अमीर के बीच बढ़ती खाई को पाटना मुश्किल है। लेकिन इतना ही महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि हम जिस उपभोक्तावादी दौर में रह रहे हैं वहाँ देने के नाम पर कितने लोग आगे आएँगे? और यदि आगे आते भी हैं तो क्या वह अपना सर्वश्रेष्ठ देंगे? भारतीय जनमानस में एक मुहावरा बहुत ही लोकप्रिय है कि 'दान में मिले बछड़े के दांत नहीं गिनने चाहिए'। दरअसल, सच यह है कि दान में लोग अपनी अन्तिम और बेकार चीजें ही देने को तैयार होते हैं। विनोबा के दानी समाज से लेकर आज के समाज में चीजें बहुत बदली हैं। उपभोक्तावाद ने अपनी पैठ बढ़ायी है। यह चुनौती बड़ी है। प्रेम भारद्वाज ने 'दो बीघा जमीन' फिल्म की समीक्षा इस आन्दोलन के नजरिये को ध्यान में रखकर की है। कुल मिलाकर पत्रिका की सामग्री पठनीय बन पड़ी है। निश्चित ही इस दौर में भूदान जैसे गम्भीर विषय पर पत्रिका का संपादन किया जा रहा है तो उम्मीद की किरणें अभी शेष हैं। मणिमाला और राजीव रंजन गिरी को संपादन के लिए धन्यवाद जरूर दिया जाना चाहिए। ❑



लेखिका पत्रकार हैं।
neha_euphony@rediffmail.com
+919930424543